दीक्षानन्द सरस्वती

सर्वस्व ग्रन्थमाला का द्वितीय कुसुम

उपनयन सर्वस्व

[सूत्र-सर्वस्व]

योे विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमा।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत् ॥
वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोता प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्र स्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥

10-8-37,38

अथर्व १०-९-३७;३८

सूचनात्सूत्रमित्युक्तं सूत्रं नाम परं पदम् ॥ २ ॥
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
तत्सूत्रं धारयेद् योगी योगविद् ब्राह्मणो यतिः ॥ ४ ॥

परब्रह्मोपनिषद्

इसी प्रकार कृतोपनयन ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी कन्या।
धीरे-धीरे वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तपको बढ़ाते चले जावें ॥

दयानन्द (स० प्र० ३ य स०)

दीक्षानन्द सरस्वती

विषयसूचि

आमुख

समर्पण—

बात सन् १९५६ की है। मेरठ के प्रभाताश्रम में गुरुवर्य श्री पण्डित बुद्धदेव जी विद्यालंकार (श्री स्वामी समर्पणानन्दजी) ने एक दिन ब्राह्ममुहूर्त के समय मुझे उठाया और उठकर मेरे द्वारा चरण-वन्दना करने के बाद कहना आरम्भ किया कि "देखो कृष्ण! आज तुम्हें यज्ञोपवीत का मर्म समझाता हूँ। यह यज्ञोपवीत किसी अन्तःसूत्र का प्रतीक है, जो प्रजापति का सूत्र था। यह शुभ्र यज्ञोपवीत बृहस्पति का है। कक्षा-भेद से प्रजापति प्रजनन-कक्षा का अधिपति है और बृहस्पति ज्ञान-कक्षा का। इसलिए एक ही मन्त्र विवाह और उपनयन में पढ़ा जाता है। दोनों संस्कारों में मन्त्र वही है परन्तु क्षेत्र-भेद से देवता भिन्न-भिन्न हैं। विवाह में यही 'मम व्रते' मन्त्र प्रजापति देवता के नाम से है और उपनयन में यही मन्त्र बृहस्पति देवता के नाम से है।" यह सब समझाकर बोले कि "देखो, यज्ञोपवीत के प्रसिद्ध मन्त्र में प्रजापति देवता का प्रयोग ही बतला रहा है कि प्रजापति-कक्षा का भी यज्ञोपवीत है, जिसे हर व्यक्ति ने मातृ-कुक्षि में पहना होता है।" यह कहकर यज्ञोपवीत-सूत्र के जानकार सूत्रधार ने वह सूत्र मेरे हाथों में थमा दिया। मैंने उसी समय से निश्चय कर लिया कि एक न एक दिन इस सूत्र की व्याख्या मुझे ही करनी होगी। बस, मैंने बड़ी सावधानी से कातना आरम्भ किया। यह सिलसिला चलता रहा, मैं यत्र-तत्र इसकी व्याख्या करता रहा, गुत्थियाँ खुलती रहीं, नई पैदा होती रहीं। धीरे-धीरे यज्ञसूत्र की ग्रन्थियाँ खुल गईं। जितना सूत्र मेरे हाथ में है, उसमें कोई ग्रंथि नहीं रही। नई गाँठ पड़ जाए तो उसके बारे में कुछ कहना धृष्टता होगी। इस सूत्र की जो भी ग्रंथियाँ खुल पाई हैं, वह सब गुरु-प्रसाद है। अतः "त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये" कहकर श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हूँ।

आर्यसमाज के सजग प्रहरी आर्य-नेता स्वर्गीय पंडित नरेन्द्र जी की प्रेरणा से मैंने १९५६ के श्रावण मास से प्रचार के क्षेत्र में पदार्पण किया। इस बीच

अनेक स्थानों पर ग्रामों, कस्बों, नगरों की समाजों में, स्कूलों में, पाठशालाओं में, गुरुकुलों में यज्ञोपवीत-विषयक भाषण दिये। केवल भाषण ही नहीं दिए, अपितु १५-१६ हजार व्यक्तियों को यज्ञोपवीत पहनाए भी। यज्ञ और यज्ञोपवीत का प्रचार मेरा मिशन हो गया। स्थान-स्थान से माँग आने लगी कि मैं इन विचारों को लेखबद्ध कर प्रकाशित करवा दूँ। मैं अवसर की प्रतीक्षा में था कि—सार्वदेशिक सभा ने सन् १९६८ में दशम आर्य महासम्मेलन मनाने की घोषणा कर दी और वह भी हैदराबाद नगर में वहाँ की आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में। मैंने इसी अवसर पर **'उपनयन-सर्वस्व'** का प्रकाशन करना उचित समझा। अस्तु, पुस्तक प्रकाशनार्थ दे दी गई और छप भी गई, परन्तु किन्हीं कारणों से हैदराबाद-सम्मेलन पर न पहुँच सकी।

जब गुरुवर प्रथम ग्राहक बने—

हैदराबाद सम्मेलन के पश्चात् ही देहली की प्रसिद्ध आर्यसमाज•दीवान हाल का उत्सव होने वाला था। इस उत्सव पर **उपनयन-सर्वस्व** ग्रन्थ के प्रकाशन की सूचना दी गई और पुस्तक विक्रयार्थ प्रस्तुत की गई। इस सूचना को मञ्च पर विराजमान मेरे श्रद्धास्पद गुरुवर्य श्री स्वामी समर्पणानन्द (पंडित बुद्धदेव विद्यालंकार) ने भी सुना और तत्कालीन बैठक की समाप्ति पर श्री स्वामी जी महाराज विक्रय-केन्द्र पर पहुँचे और पुस्तक-विक्रेता श्री मोहन जी व रामस्वरूप जी आर्य से बोले कि "यह लो एक रुपया और लाओ 'उपनयन-सर्वस्व'।" श्री मोहन जी गुरुवर्य को जानते थे। उन्होंने पुस्तक अर्पित करते हुए कहा कि "गुरु जी, यह क्या? यह तो सब आपका ही प्रसाद है; एक क्या जितनी चाहें लें लीजिए।" मैं हैदराबाद की प्रचार-यात्रा में होने के कारण वहाँ उपस्थित न था। जब यह बात श्री मोहन जी ने मुझे सुनाई तो मेरा दिल भर आया, हृदय गद्गद हो गया। स्नेहाश्रु छलक आए। मैं अपने भाग्य की सराहना करने लगा। अहो मेरा भाग्य! सोचने लगा कि मैं अपने गुरु का कितना प्रिय वात्सल्य-भाजन हूँ! ऐसा कृपा-पात्र कि मुझ अकिंचन शिष्य की इस छोटी-सी पुस्तक को क्रय करने के लिए गुरुवर्य स्वयं चले आये, अहो महानता!

गुरुवर्य के हृद्गत भाव—

कल्पना करता हूँ कि पुस्तक क्रय करने से पहले गुरुवर्य के हृदय में क्या भाव उठे होंगे! उनके हृद्गत भावों को न तो समझने की सामर्थ्य है और न

लेखनी में लिखने की ही। अवश्य ही उन्होंने सोचा होगा कि अच्छा! गुरु से भी छुपाव, जो प्रकाशित होने तक पता ही न चलने दिया? आज पकड़ा गया! मिलेगा तो खबर लूँगा! पुस्तक क्रय करने की प्रबल उत्सुकता प्रकट करती है कि उन्होंने सोचा होगा कि देखूँ तो सही कि प्रिय शिष्य ने मेरे द्वारा प्रदत्त ब्रह्मसूत्र के रहस्य को कैसे खोला है? उससे स्पष्ट भी हो पाया है कि नहीं? कोई ग्रन्थि रह तो नहीं गई? मेरा विद्यादान व्यर्थ तो नहीं गया? मैंने विद्यादान सत्पात्र को ही तो दिया है ना? देखूँ तो सही, परखूँ तो सही, जाँचूँ तो सही! ये सभी भाव गुरुवर्य के हृदय में उठे होंगे, तभी तो घोषणा होते ही इतनी उत्सुकता से सर्वप्रथम उस लघु ग्रंथ को क्रय करने चले आये। अहो! मेरा अहो भाग्य!!

मैं स्वयं भेंट करने क्यों नहीं गया?—

पाठक-वृन्द को यह जानने की बलवती इच्छा होगी कि वह पुस्तक मैं स्वयं गुरुवर्य को भेंट देने क्यों नहीं गया? उसके तीन कारण थे। **पहला** यह कि—न पुस्तक-प्रकाशन के समय मैं उपस्थित था और न पुस्तक-विक्रय के समय ही। पुस्तक तैयार हो गयी और अगले दिन विक्रयार्थ उत्सव पर आ गई। इतना भी अवसर न मिल पाया कि स्वयं पुस्तक-विक्रेता ही सादर समर्पित कर पाता। मेरे सौभाग्य से गुरुवर्य वहीं मंच पर विराजमान थे और सूचना पाते ही स्वयं पहुँच गए।

मानसिक भय—

दूसरा कारण था—आत्मभीरुता। पाठक जानते ही हैं कि परीक्षा के नाम से किसको भय नहीं होता और फिर ऐसे परीक्षक से, कि जो गुरु होने के साथ-साथ शास्त्रार्थ-महारथी रहा हो, जो बाल की खाल निकालनेवाला हो? परीक्षा का नाम ही भयावह है; अतः सदा परीक्षा से बचता रहा। परीक्षा का समय आते ही कन्नी काट जाता। इसलिए मैं गुरुवर्य के सामने न कभी भाषण देता और न लेख ही लिखता। पुस्तक भेंट करने की तो कथा ही दूर थी। भेंट करना तो ऐसा लगता था कि परीक्षक के हाथों में स्वयं अपना उत्तरपत्र थमा देना। यह मेरी दुर्बलता थी जो अब भी है। मेरी विद्या में कमी का कारण सदा ही परीक्षा से दूर ही दूर रहना है, इसीलिए न कोई परीक्षा ही दी और न कोई उपाधि ही प्राप्त की। वैसे तो आर्यसमाज के मंचों पर परीक्षा होती ही रहती है। अस्तु, दूसरा कारण मेरी अपनी मानसिक दुर्बलता थी।

तीसरा कारण था—चमत्कृत करने की इच्छा। पाठक सोचेंगे कि चमत्कृत करने से क्या अभिप्राय है? संभवतः मेरे पास शब्दों का अभाव है कि मैं अपनी बात समझा नहीं पा रहा कि जिसे चमत्कार शब्द द्वारा व्यक्त कर रहा हूँ। छोटों को सदैव यह इच्छा रहती है कि तुम कोई ऐसा काम करके दिखाओ कि जिसके सामने आते ही सहसा गुरुजनों के मुख से निकले—चित्रम्! वाह! आश्चर्य! चमत्कार! कमाल है! बस, गुरुवर्य के मुख से यह सुनने की अभिलाषा ने कि—ज्यों ही वे देखेंगे तो सहसा उनके मुख से निकलेगा 'चित्रम'—आश्चर्य! और फिर निकलेगा—शाबाश! यह था तीसरा कारण जिसने पुस्तक विक्रयार्थ आने तक पुस्तक को रहस्य ही रखा। अन्यथा, प्रकाशन से पहले उसकी पाण्डुलिपि गुरुवर्य को दिखा सकता था और उनके सत्परामर्श से लाभ भी उठा सकता था। परन्तु मैंने उन्हें दिखाना ऐसा ही समझा जैसे परीक्षा देते समय उत्तरपत्र दिखाकर परीक्षक से पूछना। मैंने सोचा कि उत्तरपत्र जाँचने पर जो और जैसा परिणाम निकलेगा वही ठीक होगा।

उत्तरपत्र परीक्षक के सामने—

मुझे जब यह पता चला कि मेरी लघु पुस्तक गुरुदेव के हाथों में चली गई है तो भयमिश्रित हर्ष हुआ। भय इसलिए कि यहाँ **'छोटे मुँह और बड़ी बात'** वाली उक्ति चरितार्थ होना चाहती है। भला मैं और ब्रह्मसूत्र के व्याख्यान-जैसा गुरुतर कार्य! और उसपर यह अभिमान कि नाम के साथ **'सर्वस्व'** अर्थात् **उपनयन सर्वस्व**! गुरु जी क्या कहेंगे! बच्चू, अब पता चलेगा—जब एक-एक पंक्ति की खाल खींची जाएगी। तर्क की कसौटी पर रगड़ा जाएगा। हर्ष इसलिए था कि—मैंने जो लिखा है, ब्रह्मसूत्र की जो ग्रंथियाँ सुलझाई हैं, वह मेरा ही काम था। मैं उस गुरु का शिष्य हूँ कि—परीक्षा में मात नहीं खाऊँगा और श्री गुरु-मुख से—चित्रम्, आश्चर्य, चमत्कार, कमाल और शाबाश के वरदान प्राप्त करूँगा।

आख़िर वही हुआ—

जैसे ही मुझे पता चला कि पुस्तक गुरु जी के हाथों में पहुँच गई है तो तत्काल श्रीचरणों के दर्शन की अभिलाषा जागृत हो गई। पता चला कि वे आजकल आर्यसमाज राजेन्द्रनगर दिल्ली में हैं और अस्वस्थ चल रहे हैं। मैं दर्शनार्थ पहुँच गया; प्रणाम किया, कुशल-क्षेम पूछा और अन्य बातें होती रहीं। अन्त में मैंने पूछा—गुरुजी, सुना है कि आप मेरी **उपनयन-सर्वस्व** पुस्तक लेकर

आये हैं ?

बस यह कहना था कि गुरुवर्य ने बोलना आरम्भ कर दिया कि—"बेटा, तूने मेरी इतनी-सी बात को कितना विस्तार दिया है ! अरे कृष्ण ! एक-एक बात के लिए प्रमाणों की झड़ी लगा दी है। अरे कहाँ से निकाल लाया ? इतना अच्छा लिखा है कि आश्चर्य होता है। शाबाश ! अब मुझे कोई चिन्ता नहीं। मैं नहीं भी रहूँ तो मेरा कार्य नहीं रुक सकता।" कहते जा रहे थे, कान तृप्त हो रहे थे। उन्होंने कहा कि मुझे स्वस्थ होने दे, मैं इस पर विस्तृत समालोचना लिखूँगा। हा ! ! न वे स्वस्थ हुए और न समालोचना लिख पाये, हा दुर्दैव ! ! !

गुरुवर्य का वात्सल्य—

मैं उस घड़ी को कभी नहीं भूलता कि गुरुवर स्वयं ज्ञान-दुग्ध पिलाने चले आये। बात तब की है जब श्री गुरुवर्य गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित थे और उन्हीं दिनों गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के आचार्य पद पर श्री पं० शिवकुमार जी शास्त्री आसीन थे। शास्त्री जी ने मुझे महाविद्यालय के उत्सव पर आमन्त्रित किया हुआ था। मैं गुरु जी से एक दिन पहले उनके निवास-स्थान पर मिल आया था। वे कुछ अस्वस्थ चल रहे थे। वे जानते थे कि मैं महाविद्यालय के उत्सव पर आया हुआ हूँ। बस, अगले दिन प्रातः ब्राह्ममुहूर्त के समय लाठी टेकते-टेकते चले आये और आचार्य श्री पं० शिवकुमार जी का द्वार खटखटाया। आचार्य जी भी साश्चर्य ब्राह्ममुहूर्त में उन्हें आया देख ठिठक गये। ऐसे समय आने का कारण पूछा तो आप बोले—"शिवकुमार ! मेरा बछड़ा खो गया है उसे ढूँढने आया हूँ। सुना है तूने बाँध रखा है, बता तो कहाँ है ?" पहले तो वे समझ न पाए कि कैसा बछड़ा और किसका बछड़ा ? फिर गुरु जी बोले, "शिवकुमार ! वो कृष्ण कहाँ है ?" उनकी बात सुनकर पं० शिवकुमार जी ने बड़े ज़ोर से ठहाका मारा।

मैं पास ही के कमरे में था। मैंने आकर उनके चरण छुए और कहा—"गुरुजी ! इतने सवेरे इतना कष्ट किया, किसी को भिजवाकर बुला लिया होता !" तो बोले—"पागल ! तुझे क्या पता उस गाय की हालत का कि जब उसके स्तनों में दूध भरा हो और बछड़ा पास न हो तो उसकी कैसी व्याकुलता होती है। बस मैं तुझे ढूँढता चला आया। चल पहले दूध पी ले।" मैं समझ गया गुरुजी में जो आशीष-ज्वार उमड़ा है, वह दर्शाने आए हैं। मैंने आसन दिया और स्वयं उनके चरणों में बैठकर ज्ञान-दुग्ध का पान करने लगा। वे कुछ ही क्षणों में

चलने को तैयार हो गए। मैंने देखा कि गाय का भार तो हल्का हो गया, परन्तु बछड़े की तृप्ति तो हुई नहीं। मैं भी पीछे-पीछे उनके निवास-स्थान तक गया। अहो! **लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति!** उस दिन पता चला कि भगवती श्रुति ने आचार्य को सोम, ओषधि और पयः तीन नाम क्यों दिये। जब कभी इन प्रसंगों को स्मरण करता हूँ तो दिल भर आता है, आँखें छलक उठती हैं, अर्घ्य-दान देने लगती हैं। देव! आपका नश्वर शरीर नहीं रहा, परन्तु विद्या-शरीर तो अक्षय है। उसी के पास बैठकर अपनी प्यास बुझा लेता हूँ। आप ठीक कहा करते थे कि कृष्ण! तुम मरणोपरान्त मेरा श्राद्ध करोगे। आर्यसमाजी कहता तो है, जीवितों का श्राद्ध करना चाहिए मरों का नहीं, परन्तु करता उलटा ही है। जीते हुए का सम्मान नहीं करता, मरने पर श्राद्ध करता है। वह बात कितनी सत्य थी! यह सब-कुछ गुरुवर्य का श्राद्ध ही है।

हम नहीं, वे क्या कहते हैं—

जब गुरुवर्य ने **उपनयन-सर्वस्व** पर अपनी सम्मति दे दी, और मेरी पीठ थपथपा दी, तो मेरा उत्साह शतगुणित हो गया। फिर तो अन्य प्रतिष्ठित वैदिक विद्वानों को भी पुस्तक दिखाने का साहस हो गया। मैं किसी भी विद्वान् को सादर पुस्तक भेंट करता और उनकी प्रतिक्रिया जानना चाहता—मौखिक भी और लेखनी द्वारा भी। उनके हृद्गत भावों को चेहरे पर पढ़ने की कोशिश करता। तो आइए सर्वप्रथम श्री पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड की प्रतिक्रिया सुनें और पढ़ें। जैसे ही मैंने उन्हें **उपनयन-सर्वस्व** पुस्तक समालोचनार्थ सादर भेंट की तो छूटते ही बोले कि क्या आप सर्वज्ञ हैं कि जो सर्वस्व लिख सकते हैं?, यह नाम उचित नहीं। मैंने विनयपूर्वक कहा कि आप समालोचना में यही लिख दें, आपको अधिकार है। मैंने कहा कि यदि भगवान् व्यास आधे श्लोक में **धर्मसर्वस्व** लिख सकते हैं तो क्या आचार्य कृष्ण ७५ पृष्ठों में भी **उपनयन-सर्वस्व** नहीं लिख सकता? वे बोले—अच्छा-अच्छा लाओ! और पुस्तक लेकर अपने झोले में रख ली। मैं मन ही मन सोच रहा था कि श्री पं० जी अतिव्यस्त रहते हैं, ऋग्वेद के आंग्लभाषानुवाद में अहर्निश लगे रहते हैं; उधर धर्मार्यसभा के प्रधान पद का भी कम दायित्व नहीं है, समय भी मिल पाएगा कि नहीं?

पाँच-सात दिन में ही एक बन्द लिफ़ाफ़ा मिला। खोला तो मेरे हर्ष का ठिकाना न रहा। श्री पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड का ही था जो आनन्द-कुटीर ज्वालापुर से २१/१/७० को लिखा गया था। उसमें उन्होंने लिखा था कि—

"मैं आपके उपनयनसर्वस्व ग्रन्थ को आद्योपान्त देख गया हूँ। मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आपने उपनयन संस्कार से सम्बद्ध सब विषयों का अत्युत्तम विस्तृत प्रभावशाली विवेचन किया है। सब क्रियाओं का युक्तियुक्त स्पष्टीकरण करने का आपने अत्यन्त अभिनन्दनीय प्रयत्न किया है। प्रारम्भ में मुझे '**उपनयन-सर्वस्व**' *इस शब्द के प्रयोग में कुछ अत्युक्ति प्रतीत होती थी, किन्तु आपने इस विषय पर इतना विस्तृत विचार प्रस्तुत कर दिया है कि और कोई महत्त्वपूर्ण बात रहने ही नहीं पाई। इसके लिए आप धन्यवाद और साधुवाद के पात्र हैं।"* उन्होंने आगे लिखा कि—

"वर्णव्यवस्था जन्म से है या गुण-कर्म से—इस पौराणिक भाइयों और वैदिक धर्मियों के मतभेद को आपने एक नए प्रकार से, जन्म से (यज्ञोपवीत वा उपनयन-संस्कार से होने वाले द्वितीय जन्म पर आधार बताकर) सुलझाने का नया मार्ग निर्दिष्ट किया है। यद्यपि पौराणिक भाइयों का वह पक्ष नहीं है।

उपनयन-संस्कार से सम्बद्ध क्रियाओं और मन्त्रों की आपकी व्याख्या बड़ी उत्तम है, जिससे पाठकों को ज्ञात होगा कि आपने इस विषय पर कितना गम्भीर अनुशीलन और मनन किया है। आपकी यह पुस्तक न केवल पुरोहित-वर्ग के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगी अपितु अन्य भी विचारशील महानुभावों के लिए होगी; अतः मैं इसका सर्वत्र प्रचार चाहता हूँ। आपकी पुस्तक अत्युत्तम है इसमें सन्देह नहीं। आपने इसे लिखकर आर्यजनता का बड़ा उपकार किया है।"

भवदीय मंगलाभिलाषी

धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, प्रधान, सा० धर्मार्य-सभा

सामवेद एवं निरुक्त के भाष्यकार और ५० से भी अधिक ग्रन्थों के लेखक समादरणीय विद्यामार्तण्ड श्री स्वामी ब्रह्ममुनि जी से आर्यसमाज मसूरी में साक्षात् का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह सन् १९६९ के जून मास की बात है। मैंने अपनी दो पुस्तकें समालोचनार्थ भेंट कीं। उन्होंने उपनयन-सर्वस्व पर अपनी सम्मति इस प्रकार दी—

व्याख्यानवाचस्पति श्री आचार्य कृष्ण जी की उपनयन-सर्वस्व नामक

पुस्तक पढ़ने को मिली। यह पुस्तक अपने विषय में पूर्ण है, वैदिक तथा अन्य शास्त्रीय प्रमाणों से अनुमोदित है। उपनयन एवं यज्ञोपवीत संस्कार के प्रत्येक अङ्ग को युक्तियों से भी सिद्ध किया है। उपनयन के तीन सूत्रों का प्रथम पिता से, पुनः माता से, पश्चात् आचार्य के मूर्धा, हृदय और नाभि से जोड़ा जाना, तथा प्रकृति के सत्त्व, रजस्, तमस् रूप सूत्रत्रय का प्रतीक एवं प्रजापति द्वारा सहज दर्शाना अपूर्व योजना है। पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

८-६-६९

ब्रह्ममुनि

वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध श्री पं० बिहारीलाल जी शास्त्री बरेली- निवासी ने अपना मन्तव्य इस प्रकार व्यक्त किया—

आपके द्वारा दी हुई उपनय-सर्वस्व आद्योपान्त पढ़ डाली। इसमें यज्ञोपवीत संस्कार की ऐसी युक्तियुक्त व्याख्या करी है कि पढ़कर हृदय आस्था से भर जाता है। मूर्धा, नाभि, स्कन्ध-स्पर्श से क्या तात्पर्य है, ९६ अंगुल का ही यज्ञोपवीत क्यों हो, परिवीत और उपवीत के भेद, आचार्य के कर्तव्य आदि अनेक शास्त्रीय रहस्य इस लघु पुस्तक में समझाए गए हैं।

संस्कार-चन्द्रिका की व्याख्या से इसमें विशेषता यह है कि शास्त्रीय वचनों का रहस्य हृदयहारी ढंग से समझाया गया है। पुस्तक प्रतिभा-सम्पन्न है और नूतन ज्ञान को बढ़ाने वाली है। सब ही आर्य और पौराणिकों के लिए उपयोगी है।

रामपुर गार्डन, ११ जी, बरेली

बिहारीलाल शास्त्री

श्री पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार चतुर्वेदभाष्यकार हैं और वेदों के अद्वितीय व्याख्याता भी। मुझे अपनी पुस्तक भेंट करते हुए संकोच हो रहा था तो उन्होंने मुझसे पुस्तक स्वयं माँग ली और जो सम्मति दी वह इस प्रकार थी—

श्री आचार्य कृष्ण जी द्वारा लिखी उपनयन-सर्वस्व पुस्तक पढ़ने का मुझे अवसर हुआ। पढ़कर यही अनुभव हुआ कि उपनयन के विषय में जो कुछ लिखना चाहिए था वह सब इस पुस्तक में लिख दिया गया है, सो उपनयन-सर्वस्व यह नाम ठीक ही रखा गया है। इस विषय में इससे अधिक उपयोगी पुस्तक अनुपलभ्य ही है। लेखन-शैली में प्रतिभा तथा विशदता का सुन्दर समन्वय हुआ है। पुस्तक को पढ़ते हुए मुझे लेखन-शैली में प्रतिभा के समावेश को देखकर श्री पं० बुद्धदेवजी का स्मरण हो आता था। लेखन-शैली

की विशदता मुझको श्री पं० इन्द्रजी विद्यावाचस्पति का ध्यान कराती थी। इस प्रकार यह पुस्तक बड़े-से-बड़े विद्वान् व साधारण व्यक्ति दोनों के लिए उपयोगी है। यह पुस्तक हिन्दी-साहित्य को वास्तव में ही समृद्ध करने वाली है।

हरिशरण

यदि नास्तिक भी उपनयन-सर्वस्व ग्रन्थ को पढ़ेगा, तो उसको स्वयं के यज्ञोपवीत-विहीन होने पर पश्चात्ताप होगा और अपने जीवन में कमी अनुभव करेगा तथा यज्ञोपवीत धारण करके जीवन को उन्नत करने की दृढ़ भावना अवश्य जाग्रत होगी।

इस पुस्तक को पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि आचार्य कृष्ण मानव-जाति को यज्ञोपवीत का शुभ-सन्देश देने के लिए दिव्यदृष्टि और दिव्यज्ञान लेकर संसार को जीवन के लक्ष्य की ओर ले जा रहे हैं।

वीरसेन वेदश्रमी
२७-१०-७०

एक दार्शनिक और तर्कप्रधान प्रवृत्ति होने के कारण क्यों (?) प्रश्न का उत्तर जहाँ नहीं मिलता ऐसे ग्रन्थों के स्वाध्याय में मेरी प्रवृत्ति न के बराबर है। परन्तु श्री आचार्य कृष्ण जी ने उपनयन को, जिसे मैं एक धार्मिक चिह्न के रूप में स्वीकार करता था, उसे मुझे एक अनिवार्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करना पड़ा। उपनयन-विषयक सभी जिज्ञासाओं का समाधान उक्त ग्रन्थ में बड़ी योग्यता, परिश्रम तथा सावधानी से किया गया है।

१२-३-७२ **ओम्प्रकाश शास्त्री**, खतौली

कविरत्न पं० श्री प्रकाशचन्द्र जी के वर्षों रुग्ण-शय्या पर रहते हुए भी जब उपनयन-सर्वस्व उनके हाथ में पहुँचा तो कवि की लेखनी रुक न सकी और कुछ पंक्तियाँ उच्छ्वसित हो उठीं—

आदरणीय आचार्य कृष्ण जी !

आपका यह 'उपनयन-सर्वस्व' आद्योपान्त देखा,
भ्रांति थी कुछ मिट गई उर में खिंची आनन्द रेखा।
लेखनी गुरुवर्य पण्डित बुद्धदेव समान ही है,
सत्य, शिव, सुन्दर, गद्यात्मक काव्य-सरि मानो वही है॥

अति अगाध गवेषणा परिपूर्ण पुण्य प्रभावशाली,
वन्द्य वैदिक संस्कृति की पोषिका यह कृति निराली।
तर्क, युक्ति, प्रमाण निज पाण्डित्य द्वारा स्पष्ट विधिवत्
कर दिया है आपने उपवीत का विज्ञान-सम्मत।
उपनयन-सर्वस्व अनुपम कृति जिन्होंने भी पढ़ी है,
उपनयन के प्रति हृदय उनके अमित श्रद्धा बढ़ी है।
धन्य वाणी, लेखनी हैं आपकी ये हे महोदय!
दे रहीं सद्ज्ञान जग को हर रही हैं शूल-संशय।
प्रार्थना परमेश से है यह हमारी सतत, सविनय,
मान्यवर आचार्य कृष्ण शतायु हों निर्भय निरामय।

प्रकाशचन्द्र

'जिज्ञासु स्मारक पाणिनि कन्या महाविद्यालय' की संस्थापिका वैदिक विदुषी पण्डिता प्रज्ञा जी का परामर्श था कि—

"आपने कन्योपनयन विषय में कम लिखा है; और अधिक लिखना चाहिए था। युक्तियाँ ऐसी प्रबल दी हैं कि जो सचमुच अकाट्य हैं। इसके कुछ ऐतिहासिक प्रमाणों की अपेक्षा है। क्या ही अच्छा हो वे भी सम्मिलित कर दिए जाएँ।"

प्रज्ञा

मैंने इस बार उन ऐतिहासिक प्रमाणों का समावेश कर दिया है। इसके लिए कन्योपनयन-विधि के लेखक श्री पं० महाराणीशङ्कर जी का आभारी हूँ। एक अतिविशिष्ट उल्लेखनीय बात यह है कि जब मैं भगवती सीता के यज्ञोपवीत-धारण-विषयक प्रमाण का मिलान करने के लिए मद्रास लॉ जर्नल प्रैस से प्रकाशित, श्री कुप्पुस्वामी द्वारा सम्पादित संस्करण का अवलोकन कर रहा था तो मेरे हर्ष का पारावार न रहा जब तद्विषयक पाठभेद मिला, जिसका अभी तक किसी भी आर्य विद्वान् ने उल्लेख नहीं किया था। यह कहना उपयुक्त होगा कि यह प्रमाण अज्ञात ही था। इसलिए भी हर्ष का विषय है कि प्रथम बार मैं इसका उद्घाटन कर रहा हूँ। अब तक भगवती सीता के यज्ञोपवीत-धारण- विषयक जो प्रमाण दिया जाता रहा है वह इस प्रकार है—मेघनाद एक बनावटी सीता बनवाकर अपने साथ रथ में बिठा लाया और विलाप करती हुई सीता को केशों से पकड़कर हनुमान् आदि वानर वीरों के सामने तेज़धार वाली तलवार से इस प्रकार तिरछा काट दिया जिस प्रकार तिरछा यज्ञोपवीत धारण किया जाता है।

उद्धृत प्रमाण के शब्द इस प्रकार हैं—**यज्ञोपवीतमार्गेण छिन्ना तेन तपस्विनी** अर्थात् मेघनाद ने उस तपस्विनी सीता को तेज़ तलवार से यज्ञोपवीत-मार्ग से तिरछा काट डाला। इस प्रमाण से सीता का यज्ञोपवीत धारण करना सिद्ध नहीं होता, या यूँ कहिए कि मन को सन्तोष नहीं होता; परन्तु अब इस प्रमाण के मिल जाने पर तो ताल ठोककर कहा जा सकता है कि भगवती सीता उस समय यज्ञोपवीत पहने हुए थी। मद्रास संस्करण के शब्द इस प्रकार हैं—**यज्ञत्रोपवीतमाधूय छिन्ना तेन तपस्विनी**। अब स्पष्ट हो गया कि मेघनाद ने सीता को केशों से पकड़कर घसीटा और मारा, उसके यज्ञोपवीत को झटककर तोड़ दिया और तलवार से उसके दो टुकड़े कर दिए।

साधुवाद—

मेरे सामने रह-रहकर प्रश्न उठता था कि वर्तमान शरीर-विज्ञान ने अत्यधिक उन्नति की है, तो क्यों न मातृकुक्षि में प्रजापति द्वारा प्रदत्त सहज-सूत्र (यज्ञोपवीत) को विज्ञानानुमोदित कर लिया जाए। इसके लिए मुझे भटकना नहीं पड़ा। बिल्कुल मेरे पड़ोसवाले कमरे में वर्तमान श्री योगेन्द्रपाल मेहता जी के सुपुत्र डॉ० अजय ने सहज ही में हल कर दिया। जैसे ही मैंने अपनी समस्या डॉ० अजय के सामने रखी वैसे ही सहज शिष्यभाव से उन्होंने तद्विषयक सभी सामग्री जुटा दी। ग्रन्थावरण के अन्तिम पृष्ठ पर जो भ्रूण का चित्र हमने दिया है जिसमें भ्रूण नाभि से आबद्ध है वह, और २१-२२ पृष्ठ पर प्रकाशित चित्र और परिचयात्मक लेख भी उनके सौजन्य से अनायास ही प्राप्त हो गए थे जिन्होंने मेरे 'उपनयन सर्वस्व' ग्रन्थ में चार चाँद लगा दिए, अथवा यूँ कहें कि सोने में सुगन्ध का काम किया। मैं इस सहयोग के लिए प्रिय डॉ० अजय को शतशः साधुवाद देता हूँ। परमात्मा उन्हें चिकित्सा के क्षेत्र में यशस्वी बनाए!

महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी पर्व पर छोटे-बड़े दस ग्रन्थों का प्रकाशन कभी संभव न होता यदि अनिकेत संन्यासी को अग्निहोत्री- परिवार ने अपने प्रयागनिकेतन में सम्पूर्ण व्यवस्था न कर दी होती। अग्निहोत्री-परिवार के लिए मेरे शुभाशीर्वाद और साधुवाद हैं। इस परिवार की कीर्ति-गाथा सर्वत्र फैले।

युग की माँग—

आज का युग युद्ध का युग है; न केवल राष्ट्रों में युद्ध चल रहे हैं अपितु विचारों में युद्ध हैं, मतों में युद्ध हैं, सभ्यताओं में युद्ध हैं, संस्कृतियों में युद्ध हैं।

एक संस्कृति दूसरी संस्कृति को मिटाने पर उतारू है। एक सभ्यता दूसरी सभ्यता को रौंद देना चाहती है। ऐसे संघर्ष में हम अपनी संस्कृति की किस प्रकार रक्षा कर सकेंगे—यह विचारणीय प्रश्न है। हमें अपनी संस्कृति और उसके प्रत्येक चिह्न को वैज्ञानिक रूप देना होगा। उनके पीछे छिपे वैज्ञानिक तत्त्वों को खोजना होगा। यदि आपने उन्हें वैज्ञानिक रूप दे लिया तो आप इस सांस्कृतिक युद्ध में विजयी होंगे। **शिखा, सूत्र, मेखला** और **दण्ड** हमारे सांस्कृतिक चिह्न हैं। इनका क्या रहस्य है? क्या वैज्ञानिकता है?— यह खोजना होगा। मैंने यज्ञोपवीत पर सर्वप्रथम विचार किया है, यह आपके सामने है। आप इसे हाथ में लेकर सांस्कृतिक समर में डट सकते हैं, विजय निश्चित है।

नामकरण—

इस लघु ग्रन्थ में मैंने सब-कुछ लिखने का प्रयत्न किया है। उपनयन की आत्मा क्या है? उपनयन के अंगोपांग क्या हैं? उपनयन की आत्मा यज्ञोपवीत है। हमने उसके निवास हृदयगुहा में प्रवेश करके देखा है। उसके प्रत्येक पार्श्व पर ऊहापोह की है। उसके लिए जो सूत्र लिया जाता है वह छानवे चप्पे का ही क्यों हो? फिर वह त्रिगुणित ही क्यों किया जाए? उसकी ग्रन्थि को ब्रह्मग्रन्थि, सावित्रीग्रन्थि क्यों कहते हैं? उपनयन की उपविधियों का क्या प्रयोजन है? इन सब पर ऊहापोह की गई है। इसीलिए इस लघु ग्रन्थ का नाम 'उपनयन-सर्वस्व' रखा है। अन्त में मौद्गल्य के शब्दों में—**'किं किं नात्र परोपकारजनितं दोषास्तु ये ते मम'**। जो कुछ अच्छा है वह सब गुरुजनों की कृपा का फल है, दोष मेरे हैं।

दीपावली

संवत् २०४० विक्रमी

—दीक्षानन्द सरस्वती

उपनयन-सर्वस्व

आर्यों के प्रमुख चिह्न—

आर्य-जाति में संस्कारों का बहुत महत्त्व था। यत्र-तत्र अब भी है। संस्कारों की संख्या सोलह है, जिनमें उपनयन-संस्कार का स्थान दसवाँ है, जो कि महत्त्वपूर्ण संस्कार है। जैसे विवाह-संस्कार के बिना व्यक्ति को गृहस्थ का अधिकार नहीं होता, वैसे ही उपनयन-संस्कार के बिना व्यक्ति को विद्या, वेद, यज्ञ और ब्रह्म का अधिकार नहीं होता[१]। इस अधिकार की सूचना जिस सूत्र से दी जाती है उसे विद्यासूत्र, यज्ञसूत्र, ब्रह्मसूत्र अथवा सावित्रीसूत्र कहते हैं, इसी का प्रसिद्ध नाम यज्ञोपवीत है। उपनयन-संस्कार का सूत्रपात इसी सूत्र को पहनाकर किया जाता है। वह उपनयन-संस्कार अपूर्ण कहलाएगा जिसमें यज्ञोपवीत धारण न कराया जाय। यज्ञोपवीत उपनयन-संस्कार का आत्मा है, इसीलिए आर्य-जाति के **शिखा, सूत्र, मेखला** और **दण्ड** चार प्रमुख चिह्नों में सूत्र का स्थान सर्वोपरि है।

इससे पहले कि हम उपनयन तथा उपनयन-संस्कारान्तर्गत चिह्न की विशद व्याख्या करें, यह बताना आवश्यक है कि चिह्न का क्या महत्त्व है, यतः यज्ञोपवीत भी चिह्न है।

चिह्न का महत्त्व—

चिह्न, निशान, लिंग अथवा प्रतीक सभी का एक ही अर्थ है।

---

१. सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥—कात्या० स्मृ० १/४

चिह्न किसी न किसी भाव के द्योतक होते हैं। यदि उनके गहन अर्थ को न समझा जाय तो हमारे लिए उन चिह्नों का कोई महत्त्व नहीं रहता। किसी भी पथ पर लगी लाल रोशनी बाधा का, रोक का, चिह्न है; हरी रोशनी छूट का, गति का। इसी प्रकार युद्ध-क्षेत्र में उभय-पक्ष में से किसी भी पक्ष से दिखाया गया सफ़ेद झण्डा शान्ति का, आत्मार्पण का प्रतीक है। इस प्रकार, चिह्न-विशेष भावनाओं के द्योतक होते हैं, यथा—लाल रंग रोक का, बाधा का, भय का; हरा रंग छूट का, गति का; और श्वेत रंग शान्ति का, युद्ध-विरति का, समता का, एकता का।

ये रंग उक्त भावों के द्योतक हैं या कल्पना मात्र ही हैं? इनके पीछे कोई विज्ञान भी है वा नहीं? है तो क्या? आइए, थोड़ा इसे समझ लें।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति—

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है[१]। उसके तीन गुण अति प्रसिद्ध हैं—सत्त्व, रजस् और तमस्। सत्त्व का रंग श्वेत, रजस् का रंग लाल और तमस् का रंग काला[२] है। सत्त्व श्वेत है, जो शान्ति का प्रतीक है। रजस् लाल है, जो क्रान्ति का प्रतीक है। तमस् काला है, जो भ्रान्ति का प्रतीक है। काले में सभी गुण-दोष छिप जाते हैं, कुछ भी स्पष्ट नहीं होता, भ्रान्ति ही भ्रान्ति होती है।

तमसो मा ज्योतिर्गमय[३] इस औपनिषदिक प्रार्थना में 'मुझे तम से ज्योति की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, ले चलो' इसकी व्याख्या है। यहाँ ज्योति के विरुद्ध आये तम का अर्थ अन्धकार के सिवाय क्या है? तम वा अन्धकार का रंग काला है। तम के प्रतिपक्षी होकर आये

---

१. **सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः**॥—सां० सू० १/६१

२. **अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्**॥—श्वेताश्वतर० ४/५

३. शतपथ-ब्राह्मण० १४/४/१/३०; बृहदारण्यक० १/३/२८

ज्योति वा प्रकाश का रंग श्वेत है। इसीलिए काले रंग को तम का, और श्वेत रंग को ज्योति का चिह्न मान लिया गया। यह है वैज्ञानिक आधार, जिसे आर्य-मनीषियों ने कभी **"तमसो मा ज्योतिर्गमय"** में उद्घोषित किया था।

समाज-वर्ण की प्रकृति-वर्ण से तुलना—

हम स्पष्ट कर चुके हैं कि सत्त्व का वर्ण श्वेत अर्थात् सफ़ेद, रज का वर्ण लोहित अथवा लाल तथा तम का वर्ण असित अर्थात् काला होता है। सम्भवतया इसी रहस्य को समझकर भगवान् वेदव्यास ने सत्त्व-प्रधान **ब्राह्मण** व्यक्ति का वर्ण **सित**=श्वेत, रजःप्रधान **क्षत्रिय** व्यक्ति का वर्ण **लोहित** =लाल, रज-तम-मिश्रित प्रधान मध्यवृत्ति वाले **वैश्य** व्यक्ति का वर्ण **पीत**=पीला तथा तमप्रधान शूद्र व्यक्ति का वर्ण **असित**=काला विहित किया है, तद् यथा—

ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा॥

(म०शा० १८१/५)

अतः ब्राह्मण के हाथ का ध्वनिघोषक शंख **श्वेत** वर्ण का, क्षत्रिय के हाथ की तलवार **लोहित** वर्ण की; वैश्य के हाथ की सुवर्ण मुद्रा **पीत** वर्ण की, और शूद्र के हाथ का हंसिया और हथौड़ा **असित** वर्ण का होता है। आर्य-मनीषियों ने **सित, लोहित, पीत** और **असित** को क्रमशः **शान्ति, क्रान्ति, कान्ति** और **भ्रान्ति** का प्रतीक माना है।

वर्णों के इसी आशय को विश्व ने अपनाया है। सर्वत्र श्वेत वर्ण को ही शान्ति का प्रतीक माना गया है। शान्ति के लिए श्वेत वर्ण का वरण इस बात का द्योतक है कि—**शान्ति** वह अवस्था है, जिसमें सभी पारस्परिक भेद-भाव समाप्त हो जाते हैं और एकत्व की स्थापना हो जाती है। जैसे, श्वेत वर्ण में सभी काले, पीले, नीले, हरित आदि वर्ण

एक हो जाते हैं। यदि शान्ति-प्रासाद के तोरण द्वार पर **यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्**[१] वैदिक सूक्ति अंकित रहेगी, तो श्वेत प्रासाद (White House) के तोरण द्वार पर भी **यत्र विश्वं भवति (श्वेत) एक वर्णम्** सूक्ति अंकित रहेगी।

राष्ट्रिय ध्वज तिरंगा—

भारत के राष्ट्रिय ध्वज के तीन रंग भी इन्हीं भावनाओं के द्योतक हैं। उसका केसरिया रंग क्रान्ति का, श्वेत रंग शान्ति का, और हरित रंग सम्पन्नता या कान्ति का है, जिसका प्रमाण राष्ट्र के हरे-भरे खेतों से मिलता है। साथ ही, इन तीनों का क्रम भी किसी आदर्श भावना का परिचायक है। राष्ट्रिय ध्वज तिरंगे में केसरिया के नीचे श्वेत रंग का रखा जाना इस भावना का द्योतक है कि (१) क्रान्ति के बिना शांति सुरक्षित नहीं रहती। (२) शान्ति सदा ही क्रान्ति की छाया में पनपती है।(३) क्रान्ति की सफलता शान्ति की स्थापना से होती है। (४) क्रान्ति और शान्ति मर्यादित हैं। इसकी सम्पुष्टि राष्ट्र की सम्पन्नता से होती है, राष्ट्र के खेतों की हरियावल से होती है। बस, केसरिया के नीचे श्वेत रंग और उन दोनों की छाया में हरे रंग के होने का रहस्य यही है।

विश्व के सभी राष्ट्रों के अपने-अपने चिह्न हैं, अपने-अपने प्रतीक वा निशान हैं, फिर चाहे वे देश आस्तिक हों अथवा नास्तिक। यही नहीं, अपितु राष्ट्रों के प्रत्येक शासकीय विभाग के अपने-अपने चिह्न हैं। स्थल, जल व नभ सेनाओं के प्रतीक भी अलग-अलग हैं। यदि किसी विभाग का चिह्न नहीं है, तो वह है शिक्षा-विभाग। आर्यों ने सर्वप्रथम शिक्षा-विभाग का चिह्न बनाया, उसी का नाम है **'यज्ञोपवीत'**।

---

१. यजुः ३२/८

यज्ञोपवीत सार्वभौम चिह्न है—

यथा कुछ चिह्न प्राकृतिक हैं, कुछ राष्ट्रिय हैं, कुछ धार्मिक और कुछ सांस्कृतिक हैं। आर्य-संस्कृति सार्वभौम संस्कृति है, यज्ञोपवीत भी उस सार्वभौम संस्कृति का एक सार्वभौम या सार्वजनीन चिह्न है। आर्य-संस्कृति में से यदि इन शिखा-सूत्रादि सांस्कृतिक चिह्नों को निकाल दिया जाय तो वह निष्प्राण हो जाय। किसी भी जाति की संस्कृति के अनुरूप ही उसके संस्कार होते हैं और संस्कारों के अनुरूप ही उसके चिह्न।

संस्कृति के अनुरूप संस्कार—

आर्यों के षोडश संस्कार उनकी संस्कृति के अनुरूप हैं। उन षोडश संस्कारों में उपनयन-संस्कार का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उपनयन-संस्कार का सूत्रपात जिस सूत्र से होता है उसे यज्ञोपवीत, विद्या-सूत्र, यज्ञ-सूत्र अथवा ब्रह्मसूत्र कहते हैं[१]। इस यज्ञोपवीत को सार्वभौम चिह्न कहना अधिक उपयुक्त है। आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन करता हुआ इस यज्ञोपवीत के **'त्रिसूत्र'** द्वारा ब्रह्मचारी के **हृदय, चित्त** और **मन** का उपनयन करता है। अतः यह **सार्वभौमिक विद्या-सूत्र** है, यह चिह्न शैक्षणिक चिह्न है।

यज्ञोपवीत की उपेक्षा अपराध है—

यदि कोई व्यक्ति राष्ट्रिय ध्वज की उपेक्षा करे, उसका अपमान करे, यथास्थान लहराते हुए ध्वज को उतार दे, तो वह राष्ट्रिय अपराध का भागी होता है, उसे कठोर दण्ड दिया जाता है। तद्वत् यज्ञोपवीत-

---

१. देखिए याज्ञवल्क्य स्मृति (१/१६ एवं १/३३)

चिह्न की उपेक्षा वा अपमान करनेवाला व्यक्ति भी सार्वभौम अपराध का भागी है और वह उससे भी अधिक कठोर दण्ड का पात्र है। इन चिह्नों को उतारना वा छीनना अवाञ्छनीय और निन्दनीय है। इसकी जितनी भर्त्सना की जाय, उतनी ही कम है। इस सांस्कृतिक चिह्न को छीनने, उतारने, तोड़नेवाला व्यक्ति अपराधी है, एवं कठोर दण्ड का भागी है।

उपनयन शब्द का अर्थ—

उपनयन शब्द का अर्थ तो केवल 'पास ले जाना' है। अब प्रश्न यह है कि किसको किसके पास ले जाना? इसका सीधा-सा उत्तर यही है कि जिसका उपनयन हो उसको जो उपनयन कर रहा है, उसके पास ले जाना, अर्थात् कुमार को आचार्य, उपाध्याय अथवा गुरु के पास ले जाना **उपनयन** है। वह पद्धति अथवा प्रक्रिया जिससे कुमार को आचार्य के पास ले-जाया जाता है, **उपनयन-संस्कार** है।

उपनयन की संभावना—

इस प्रकार उपनयन संस्कार की परिभाषा से दो बातें तो स्पष्ट हैं। एक यह कि ब्रह्मचारी आचार्य के पास जाना चाहता हो, और दूसरे यह कि आचार्य ब्रह्मचारी को अपने लेना चाहता हो। अन्तेवासी और आचार्य की परस्पर उपनयन की भावना पर ही उपनयन-संस्कार की संभावना है।

कुमार की प्रार्थना—

उपनयन के समय कुमार की आयु कम से कम पाँच वर्ष से लेकर आठ वर्ष होनी चाहिए। वर्षों की दृष्टि से कुमार की आयु भले कुछ भी हो, उसे इतना बोध तो अवश्य होना चाहिए कि वह कहे

ब्रह्मचर्यमागाम, उप मा नयस्व[1], **ब्रह्मचार्यसानि**[2] कि मैं ब्रह्मचर्य को प्राप्त हो गया हूँ, मैं ब्रह्म को जानना चाहता हूँ, मुझे ब्रह्मवेत्ता आचार्य के पास ले चलिए, मुझे ब्रह्मचारी होने दीजिए। उपर्युक्त विवेचना से उपनयन का अर्थ हुआ—'**वेदाध्ययनाय आचार्य-समीपे नयनमुपनयनम्**, अर्थात् वेदाध्ययन के लिए आचार्य के समीप ले-जाना उपनयन है।

आचार्य द्वारा स्वीकृति—

अन्तेवासी का यह कर्त्तव्य है कि '**उप मा नयस्व**' मुझे आचार्य के समीप ले चलिए, कहे। वहाँ उसके संरक्षक अभिभावकों का कर्त्तव्य होता है कि वे अन्तेवासी को आचार्य के समीप ले जाएँ और आचार्य से प्रार्थना करें कि आप इसका उपनयन करें। वे यजुः-श्रुति के शब्दों में प्रार्थना करें कि **आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्**[3]—हे अन्तेवासी की अभिलाषा को पालित-पूरित करनेवाले आचार्य! इस यज्ञोपवीतरूप पुष्कर-स्रक् धारण किए कुमाररूप गर्भ को धारण करिए, जिससे कि यह कुमार मनुष्य-समाज में पुरुष कहलाने योग्य हो। इस प्रकार अन्तेवासी और उसके अभिभावकों की प्रार्थना पर आचार्य ब्रह्मचारीरूप गर्भ को अपने उदर में ले लेता है, जिसका मनोहारी वर्णन अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में इस प्रकार हुआ है—**आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति। तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।**[4] अर्थात् आचार्य उपनयन की कामना से ब्रह्मचारीरूप गर्भ को अन्दर धारण कर लेता है और उसको तीन प्रकार की अन्धकाररूप अज्ञान-रात्रियों के दूर होने

---

१. पा०गृ० २/१०/२०, २२
२. पा०गृ० २/२/६
३. यजुः० २/३३
४. अथर्व० ११/५/३

तक अपने उदर में धारित रखता है, पालित और पोषित करता है। तब अन्तेवासी का (द्वितीय) जन्म होता है। द्वितीय जन्म होने पर उसके दर्शनार्थ विद्वत्-समाज सब ओर से जुट आता है।

आचार्य द्वारा शिष्य का उपनयन—

उपनयन-संस्कार द्वारा आचार्य शिष्य को इतना समीप कर लेता है, जितना कोई माता अपने पुत्र को अथवा गर्भवती गर्भ को। जैसे माता और गर्भ में कोई दूरी नहीं रहती, तद्वत् आचार्य और ब्रह्मचारी में भी परस्पर कोई दूरी नहीं रहती। उदरस्थ गर्भ और माता में जितनी समीपता होती है, उतनी ही आचार्य व शिष्य में समीपता होनी चाहिए। जैसे माता और गर्भ की समीपता में दोनों के श्वास, दोनों के विश्वास, दोनों के मन, दोनों के वचन, दोनों के आचरण एक हो जाते हैं, तद्वत् आचार्य और उसके गर्भगत ब्रह्मचारी के श्वास, विश्वास, मन, वचन, और आचरण एक होने चाहिएँ। तब कहीं जाकर आचार्य द्वारा शिष्य का 'उपनयन' हुआ समझा जाएगा।

नयन शब्द का अर्थ—

नयन शब्द 'णीञ् प्रापणे' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ 'प्राप्त करना' है। वास्तव में आँखों को नयन कहने का अभिप्राय भी यही है कि वह दूरस्थ पदार्थों को प्राप्त करा देती हैं। आँखों के द्वारा दृश्य को प्राप्त करने पर ही पाँव उस ओर चलते हैं, आँखें उन्हें उस ओर ले चलती हैं। बस, ले-चलने के कारण, आँख को 'नयन' कहते हैं। यह सब प्रक्रिया इस प्रकार सम्पन्न होती है। कोई भी व्यक्ति पदार्थ को तभी देख पाता है, जब पदार्थ की रूप-तरंगें चक्षुस्तल पर, और चक्षुस्तल से उठी दर्शन-तरंगें पदार्थ तक जा टकराती हैं। तब चक्षुस्तल पर हुए अंकन को पढ़कर व्यक्ति कहता है कि सामने अमुक

पदार्थ है। यह सब **'उपनयन'** के कारण ही हुआ करता है। उपनयन के लिए दोनों ओर से उठी तरंगों का परस्पर मिलना आवश्यक है। दोनों ओर से उठी तरंगें ही परस्पर इन्द्रिय और अर्थ को बाँधनेवाली होती हैं। **विषय** शब्द का अर्थ ही बन्धन है। (षिञ् बन्धने) **'विशेषेण सिनन्ति बध्नन्ति इति विषयाः'**—जो इन्द्रियों को विशेषतया कसकर बाँध ले वही विषय है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आदि विषय इन्द्रियों को जब बाँध लेते हैं तब कहीं पदार्थ का उपनयन, समीप लाना, हुआ करता है। उसी प्रकार आचार्य और शिष्य के उपनयन में दोनों के हृदयों से उठी तरंगों का, दोनों के मन से उठी संकल्प-धाराओं का एक होना आवश्यक होता है। बस, उभयपक्ष से उठी धाराओं का, जो एक को दूसरे से बाँधनेवाली हैं, प्रत्यक्ष करना ही उपनयन की त्रि-सूत्री का अध्ययन है, जिसके बिना आचार्य-शिष्य का सामीप्य सर्वथा असम्भव है।

उपनयन किसका?—

यदि किसी व्यक्ति का चक्षुस्तल सर्वथा ख़राब हो तो उस अवस्था में पदार्थ का अंकन न होने से उसका पढ़ा जाना सर्वथा असम्भव होगा। कदाचित् चक्षुस्तल पर कोई धुन्ध आ गई हो तो आँखों पर मनुष्यकृत चक्षु चढ़ा लेने से सामनेवाले पदार्थ का अंकन स्पष्ट होने लगेगा, और व्यक्ति उसे पढ़ लेगा। इस कृत्रिम लैंस को भी 'उपनयन', उपनेत्र, नयनक, अयनक कहते हैं। इस उपनयन की, चश्मे की उन्हें ही आवश्यकता होती है, जिन्हें धुँधला दिखाई देता है। सर्वथा अन्धे अथवा स्पष्ट देख सकनेवाले, दोनों को उपनयन की, चश्मे की आवश्यकता नहीं रहती। शिशु और संन्यासी दोनों को ही उपनयन की आवश्यकता नहीं।

कुमार के लिए दूसरी आँखें—

मनुष्य-जीवन में कौमार अवस्था ही ऐसी अवस्था है जिसमें धुँधला दिखता है, कुछ-का-कुछ दिखता है। ऐसी भयावह अवस्था में उपनयन की आवश्यकता होती है—कहीं कुमार भटक न जाय, पथभ्रष्ट न हो जाय, ठोकर न खा जाय! उसकी आँखों पर क्या भरोसा? उसे धुँधला दिखता है, कुछ-का-कुछ दिखता है। तभी तो कुमार पुकार-पुकारकर कहता है—हे आचार्य! मुझे अपनी आँखें दो, चश्मा दो, उपनयन दो, अब मैं अपनी आँख से न देखकर, आपकी आँख से देखूँगा। मेरी आँखों पर आचार्य की आँखें चढ़ी होंगी तब मुझे कोई भय नहीं होगा, कोई खटका नहीं होगा। लाओ आचार्य! चश्मा दो। **'उप मा नयस्व'** मेरे नयन के उपनयन बन जाओ। वह ब्रह्मचर्य सूक्त के शब्दों में पुकार उठता है—

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम्॥

अथर्व० ११/५/२५

तब आचार्य ने भी ब्रह्मचारी की करुण पुकार को सुनकर उसका उपनयन किया और ब्रह्मचारी की आँखों पर अपनी आँखें चढ़ा दीं।

उपनयन की सार्थकता—

व्यक्ति का किसी अन्य व्यक्ति की आँखों में से झाँककर देखना तभी सम्भव है जब देखनेवाला, दिखानेवाले का गर्भ बन जाय। गर्भावस्था में ही ऐसी सम्भावना है कि जब गर्भस्थ जीव अपनी आँख से न देखकर माँ की आँख से देखता है, अपने मन से मनन न कर माँ के मन से मनन करता है, अपने चित्त से चिन्तन न कर माँ के चित्त से चिन्तन करता है, अपने नथुनों से श्वास न लेकर माँ के नथुनों से श्वास लेता है। इसी प्रक्रिया का नाम है यथार्थ उपनयन। इतना गहरा उपनयन करने के निमित्त ही तो आचार्य ब्रह्मचारी को अपने उदर में ले

लेता है, आचार्य शिष्य को अपने वरुण-पाश में बाँध लेता है।

दो जन्म—

व्यक्ति का प्रथम जन्म मातृ-उदर से होता है तो द्वितीय जन्म सावित्री माँ के उदर से। सामान्य लोगों को यह भी ज्ञान नहीं कि—मनुष्य का प्रथम जन्म के अतिरिक्त द्वितीय जन्म भी होता है। जिस दिन द्वितीय जन्म के रहस्य को समझ लिया जाएगा उसी दिन यज्ञोपवीत, उसके त्रिसूत्र, फिर प्रत्येक सूत्र के तिहरे होने, ब्रह्मग्रन्थि लगाने आदि का मर्म समझ में आ सकेगा।

'द्विज' शब्द का व्यवहार—

व्यक्ति का द्वितीय जन्म भी होता है, इसे प्रमाणित करने के लिए हमें कहीं दूर जाने की आवश्यकता नही। **द्वि-ज** शब्द का प्रयोग ही पुकार-पुकारकर कह रहा है कि व्यक्ति के दो जन्म होते हैं, तभी व्यक्ति द्वि-ज कहलाता है। कितना बड़ा आश्चर्य है कि समान्य जन द्विज शब्द का व्यवहार तो करते हैं, परन्तु उन्हें इसी शरीर द्वारा द्वितीय जन्म का किञ्चित् भी बोध नहीं होता। **'द्वाभ्यां जायत इति द्विजः'**—जो दो योनियों से जन्मा हो वह द्विज है। मातृ-योनि से तो सभी जन्मे हैं, परन्तु दूसरी योनि कौन-सी है जिससे जन्म पाकर व्यक्ति द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बन जाता है? आचार्य-योनि से प्राप्त जन्म ही उत्कृष्ट है, प्रमुख है। इसके बिना मातृयोनि से प्राप्त जन्म साधारण जन्म है। साधारण जन्म से सभी व्यक्ति शूद्र हैं[1]। जो व्यक्ति विद्यामाता से जन्म धारण नहीं करता अर्थात् पढ़ाने से भी नहीं पढ़ सकता वह शूद्र है, एकज है, द्विज नहीं।

---

१. जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।—वज्र० उप०, अत्रि सं० १४२

वर्णव्यवस्था का आधार जन्म है—

अब वह विवाद भी समाप्त हो जाता है जो आर्यसमाज और पौराणिकों में सदा बना रहता है। आर्यसमाज का मन्तव्य है कि वर्णव्यवस्था का आधार गुण-कर्म-स्वभाव है, जबकि पौराणिकों का आग्रह है कि वर्णव्यवस्था का आधार जन्म है। यदि इस पारस्परिक विवाद को समाप्त करने के लिए आर्यसमाज पौराणिकों के इस आग्रह को मान ले कि वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म है और पौराणिक आर्यसमाज के इस तर्क को मान ले कि—जन्म आधार तो है परन्तु पहला नहीं, **दूसरा जन्म;** तो विवाद अभी समाप्त हो जाए। हमारी तो युक्ति ही यही है कि **ब्राह्मण, क्षत्रिय** और **वैश्य** तीनों वर्णों को **द्विज** कहा जाना ही इस बात का प्रमाण है कि उन्हें माता-पिता द्वारा प्रदत्त प्रथम जन्म ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य न बना सका। यदि बना सकता तो **द्विज** शब्द का निर्माण ही न हुआ होता, द्विज शब्द की उत्पत्ति ही न हुई होती, एकज से ही काम चल जाता। उनको द्विज कहा जाना ही प्रथम जन्म के खण्डन का अकाट्य प्रमाण है, जिस पर पौराणिक मत आग्रही हैं। प्रमाणभूत ऋग्वेद का यह मन्त्र उपस्थित है—

अभि द्विजन्मा त्री रोचनानि विश्वा रजांसि शुशुचानो अस्थात्।
होता यजिष्ठो अपां सधस्थे॥

ऋ० १/१४९/४

द्विजन्मा उपनयनसंस्कार-प्राप्त आचार्य से द्वितीय जन्म धारण करके द्विज बने हुए **त्रीरोचनानि** तीन प्रकार की ओज, तेज, वर्च रूप दीप्ति को धारण किए हुए **विश्वा रजांसि** समस्त लोकों को **शुशुचानः** दीप्तिमान् करता हुआ **अस्थात्** स्थिर होता है। वह स्नातक **होता यजिष्ठो** यजनशील होकर **अपां सधस्थे** जलों के समीप स्थित होता है।

आपस्तम्ब-सूत्रकार ने भी यही बात इस प्रकार कही है कि—**स**

हि विद्यातः तं जनयति तदस्य श्रेष्ठं जन्म। मातापितरौ तु शरीरमेव जनयतः।—'आचार्य विद्या-माता से उस ब्रह्मचारी को जन्म देता है। वही इस ब्रह्मचारी का श्रेष्ठ जन्म है। माता-पिता तो केवल शरीर को जनते हैं।'

उपर्युक्त विवेचन से यह तो सिद्ध हो गया कि व्यक्ति के दो जन्म होते हैं—एक माता-पिता द्वारा साधारण जन्म और दूसरा विद्यामाता अपि वा आचार्य द्वारा श्रेष्ठ जन्म।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जन्म-धारण के लिए किसी-न-किसी उदर में रहने की आवश्यकता होती है। यदि साधारण जन्म के लिए मातृ-उदर में रहना आवश्यक है तो श्रेष्ठ जन्म धारण के लिए, द्वितीय जन्म धारण के लिए भी किसी उदर में रहना आवश्यक है। उसी को आचार्य-योनि कहते हैं। इसीलिए **'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः'**[1]—आचार्य उपनयन की कामना से ब्रह्मचारीरूप गर्भ को उदर में धारित कर लेता है। अब आचार्य जो कुछ देखेगा, चिन्तन करेगा, उसका अंकन गर्भभूत ब्रह्मचारी पर अवश्य होगा। यथा माता की प्रत्येक क्रिया का, चेष्टा का, चिन्तन का अंकन उदरस्थ गर्भ पर होता है और वह अंकन इतना गहरा होता है कि जन्म के पश्चात् भी शिशु उन्हें पढ़ लेता है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी पर आचार्य के चरित्र का अंकन इतना गहरा बना रहेगा कि स्नातक होने के उपरान्त भी सहज पढ़ा जा सकेगा।

अनुपम उपमा—

आचार्य और शिष्य के सम्बन्ध को बतानेवाली इससे उत्तम उपमा लाई ही नहीं जा सकती। आचार्य और शिष्य का परस्पर क्या सम्बन्ध होना चाहिए, इसके लिए आप सहस्रों उपमाएँ लाइए, किन्तु **"आचार्य**

---

१. अथर्व० ११/५/३

उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः" वाली इस उपमा के सामने सब फीकी पड़ जायेंगी। यही तो परम कवि का चमत्कार है! आचार्य और शिष्य का वास्तविक उपनयन तब ही होता है जब गर्भभूत ब्रह्मचारी आचार्य के उदर में रहे, यतः इसी से जन्म पाकर वह द्विज बनेगा। यह उपमा इतनी गरिमामयी है कि इसकी जितनी प्रशंसा की जाए उतनी ही कम है। भला बताएँ तो सही—माता की किस चेष्टा का, किस क्रिया का, किस चिन्तन अथवा मनन का प्रभाव उदरस्थ गर्भ पर नहीं होता? यह सर्वथा असम्भव है कि माता गुप्त चेष्टाएँ करे और उसका अङ्कन गर्भ पर न हो। तद्वत् आचार्य की प्रत्येक चेष्टा का, क्रिया का, आचार-विचार, उच्चार-संचार का शिष्य पर अङ्कन होता है। माता के किन्हीं विशेष दिनों में आँख में अञ्जन डालने से गर्भ अन्धा, बालों में कंघी करने से उदरस्थ गर्भ गंजा हो जाता है। जैसा माता का वृत्त होगा वैसा ही गर्भ का भी। आचार्य नाम की सार्थकता इसी में है कि **आचारं ग्राहयतीत्याचार्यः**—जो शिष्य को आचार ग्रहण कराता है वही आचार्य है। शिष्य आचार्य के आचार को देखकर ही अनुकरण करता है, इसलिए आचार्य का धर्म है कि वह कोई भी इस प्रकार का आचरण न करे जिसके अनुकरण का परिणाम शिष्य के लिए घातक हो। जैसे प्रबुद्धा माँ पुत्र-निर्माण में इस बात का ध्यान रखती है कि उससे कोई ऐसी अनुचित चेष्टा न हो, जिससे बालक कुचेष्टाशील हो जाय। आचार्य यह न समझ बैठे कि मैं शिष्य से कुछ छिपाकर कदाचार कर सकूँगा। वह शिष्य से कभी कुछ न छिपा सकेगा।

आचार्य ज्ञान को भी न छिपाए—

वेद की इस उपमा में जहाँ यह भाव निहित है कि आचार्य और शिष्य एक-दूसरे से कुछ छिपाकर न रखें, वहाँ यह भी निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य कोई भी ऐसा भोजन न करे जिसे ब्रह्मचारी से छिपाकर

खाया जा सके। आचार्य और ब्रह्मचारी के भोजन में भिन्नता नहीं होनी चाहिए, अपितु शिष्य का भोजन आचार्य द्वारा किए गए भोजन से भी अधिक उत्कृष्ट और सुपाच्य होना चाहिए। ब्रह्मचारी उसका गर्भ है; यथा माता जो भी आहार करती है, उसका सारभूत रस गर्भ तक पहुँचता है, जो कि भोजन से उत्कृष्ट भी है और सुपाच्य भी है, तभी तो गर्भ का उचित विकास होता है!

इस उपमा में जहाँ स्थूल अन्न के न चुराए जाने की बात है, वहाँ आचार्य द्वारा ज्ञान-अन्न के न चुराए जाने की भी बात है। वास्तव में आचार्य ने तो उसे बौद्धिक जन्म देना है और यही जन्म उसके उत्कर्ष का कारण है। जन्म तो उसे विद्या माता से मिलेगा। वह व्यक्ति आचार्य बनने का अधिकारी नहीं जो ब्रह्मचारी से ज्ञानान्न को चुराकर रखता हो। उपनयन का उद्देश्य ही यह है कि आचार्य अनेक ग्रन्थों का अध्ययन कर, चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करे, तब जो रस तैयार करे उसे ब्रह्मचारी तक पहुँचाये; जो ब्रह्मचारी के लिए सुपाच्य हो, जो ब्रह्मचारी का बौद्धिक विकास कर उसे द्विज बना सके।

यदि वेद में यह उपमा नहीं होती तो आचार्य के इस महत्त्वपूर्ण दायित्व को कैसे समझाया जा सकता? आचार्य का दायित्व तो उससे भी महान् है, जो कि एक गर्भवती का दायित्व है। जैसे गर्भवती इस बात का ध्यान रखती है कि उदरस्थ गर्भ का कोई अहित न हो जाय, उसका कोई पग ऐसा न उठे जिससे उसे महती हानि उठानी पड़े, कोई ऐसा भोजन न करे कि जिससे गर्भपात हो, और न ही ऐसे शीतल आहार ले कि जिससे गर्भ का विकास रुक जाय—जन्म पाकर भी वह मृत-सदृश हो।

आचार्य का मध्यम मार्ग—

आचार्य को यह देखना होगा कि ब्रह्मचारी राष्ट्र का गर्भ है; उसकी रक्षा का दायित्व मुझपर है। द्विज बनने तक, द्वितीय जन्म धारण

करने तक उसका मेरे विद्यालय-रूपी उदर में ही रहना आवश्यक है, अन्यथा, वह एकज = शूद्र रह जाएगा। आचार्य नियम बनाते समय इस बात का अवश्य ध्यान रखे कि ब्रह्मचारी उनका सहर्ष पालन करे; वे नियम ब्रह्मचारी को शिक्षणालय से भाग खड़ा होने के लिए बाधित न कर दें। आचार्य गम्भीर और गहन विषयों का अध्यापन कराते हुए देख ले कि ये ब्रह्मचारी के लिए सुपाच्य भी हैं वा नहीं। अन्यथा, विषय की दुरूहता ही विद्यार्थी को शिक्षणालय छोड़ने के लिए बाधित कर देगी। जैसे रूखा और नीरस भोजन गर्भ के लिए अहितकर होता है, तद्वत् विषय की दुरूहता, रुक्षता भी ब्रह्मचारी के मस्तिष्क के लिए अहितकर हो सकती है। चतुर वैद्य का काम है कि वह रुक्ष भोजन को भी ऐसा सरस बना दे जिससे गर्भ का विकास हो। तद्वत् चतुर आचार्य का कर्त्तव्य है कि दुरूह और रूक्ष विषय को भी ऐसा सरस और सुपाच्य बना दे कि ब्रह्मचारी का बौद्धिक विकास सहजता से हो जाय। भोजन जहाँ शुष्क और नीरस न हो, वहाँ इतना स्निग्ध और सरस भी न हो कि गर्भ का विकास ही रुक जाय; विषय की रोचकता के लिए प्रयुक्त स्निग्धता और सरसता आगे पाठ ही न चलने दें—विद्यार्थी इतिहास, साहित्य, कला आदि के अतिरिक्त गणित, व्याकरण आदि विषयों में रुचि ही न ले, जिससे उसका चतुर्मुखी विकास रुक जाय। अभिप्राय यह है कि आचार्य न तो इतना कठोर ही बने कि शिष्य विषय को देखकर भाग ही खड़ा हो, और न इतना कोमल ही बन जाए कि विद्यार्थी सिर-चढ़ा हो जाय।

गर्भ का उचित विकास और निर्माण—

वेद में ऐसी उपमा देने का एक कारण यह भी दिखाया है कि—आचार्य और शिष्य का सम्बन्ध हार्दिक है। जैसे गर्भवती के जीवन में एक ऐसा समय भी होता है जब उदरस्थ गर्भ का मन, हृदय,

मस्तिष्क बनते हैं, उस समय गर्भवती को दो हृदयवाली कहते हैं **"द्वौहृदिनी इत्याचक्षते"**। यह समय ऐसा होता है कि उदरस्थ गर्भ का हृदय भी काम करने लगता है। अब वह भी भावनायुक्त हो जाता है। उसका भी चिन्तन आरम्भ हो जाता है। उसकी भी कुछ माँग होने लगती है। इसलिए प्रायः देखा जाता है कि ऐसे समय गर्भवती वह-कुछ माँगने लगती है, वह-कुछ खाने लगती है कि जिसकी किसी को न कल्पना थी और न सम्भावना ही। वास्तव में यह प्रेरणा उदरस्थ गर्भ-हृदय से उठी होती है। इसीलिए माता उसकी पूर्ति के लिए लालायित रहती है। चतुर वैद्य का कर्त्तव्य है कि माता की इन इच्छाओं को न रोके। उसकी माँग के अनुरूप ऐसी औषध तैयार करके दे जो उसके लिए पथ्य हो। माता की दोहद-इच्छा को रोके नहीं।

उपनयन की सार्थकता इसी में है कि आचार्य दो हृदयवाला हो जाय—अपने और शिष्य के हृदय में एकता स्थापित कर ले। आज क्या कहीं किसी शिक्षणालय में इस दोहद-अवस्था की अनुभूति की जा रही है? कहीं आचार्य और शिष्य परस्पर एक-दूसरे के हृदय की भावनाओं का सम्मान करते हुए सहृदयता को जन्म दे रहे हैं? कहीं उन सूत्रों को समझ लिया गया है? जिनसे आचार्य और शिष्य के उदर, हृदय और मस्तिष्क को ग्रथित किया जा सके, जिनसे आचार्य और शिष्य के मन, वचन और करण को गूँथा जा सके? क्या अभी तक भी आप नहीं समझे कि उन सूत्रों को ही तो यज्ञोपवीत के त्रिसूत्र कहते हैं। ये ही वे सूत्र हैं जिनसे आचार्य और अन्तेवासी के उदर, हृदय और मस्तिष्क को, अन्न-प्राण-मन को, ग्रथित किया जाता है।

परिवीत और उपवीत—

यज्ञोपवीत का वास्तविक रहस्य जानने के लिए **परिवीत** और **उपवीत** दोनों शब्दों का अन्तर समझ लेना होगा। परिवीत उस वस्त्र को

कहते हैं जो सारे शरीर को ढकने के लिए पूरी तरह लपेट लिया जाता है, और उपवीत उस वृत्त, वलय अथवा घेरे को कहते हैं, जो विशेष स्थान पर से होकर गुज़रता है, जो वाम कन्धे पर से डाला जाकर हृदय, नाभि पर से होता हुआ दक्षिण भाग में, दक्षिण मुष्टि में आ जाता है। खगोल-शास्त्र को पढ़ते हुए आपने शनिग्रह का चित्र देखा होगा। उसपर एक वृत्त-वलय चढ़ा रहता है, वह उसका मानो उपवीत है। हर परिपाक के लिए **परिवीत** और **उपवीत** दो वीतियों का होना आवश्यक है।

अण्डे का उदाहरण—

साधारण अण्डे को देखिए। इसमें गर्भ, परिपाक के लिए बन्द है। अण्डे का छिलका एक ऐसा आवरण है जो सब ओर से गर्भ को ढके हुए है,—इसे ही परिवीत कहेंगे। साथ ही इसमें गर्भ के परिपाक के लिए जो विशिष्ट सूत्र का वलय—वृत्त है, उसे उपवीत कहेंगे। उस अण्डे में भरा हुआ तरल पदार्थ वह जल है जिसमें जीव तैरता है, जिससे धारित और पोषित होता है, उसके लिए 'पुष्कर' है। ऊपर का ख़ोल ही वह आवरण है जो बाह्य चोट और धक्के से पक्षी-गर्भ की रक्षा करता है और उससे धारित उपवीत वह वृत्त-सूत्र है जिससे गर्भ को आहार-रस पहुँचता है।

प्रथम जन्म में उपवीत—

मनुष्य के प्रथम जन्म के लिए भी नियम[१] है कि मातृ-उदर में आया हुआ गर्भ एक ऐसे आवरण से ढका रहता है जिसे जरायु कहते हैं; वह सर्वथा उसी रूप में होता है जैसे अण्डे का ऊपर का ख़ोल, परन्तु उस ख़ोल के मध्य भी गर्भ-परिपाक के लिए जिन अन्तःसूत्रों की आवश्यकता है, वही गर्भ का अन्तः-उपवीत है। बिना उन अन्तःसूत्रों के गर्भ को रस,

---

१. **स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजाः** ।—ऋ० १/१६४/३२
ततश्च परिवीत उल्वजरायुभ्यां परिवेष्टितो यथाकाले जायमानो बहुप्रजा बहुजन्मभाक्।

प्राण और ओज नहीं पहुँचता। परमात्मा द्वारा यह इतना उत्तम प्रबन्ध है कि सहसा मुँह से निकलता है, **"चित्रम्!"** आचार्य चरक ने उन अन्तःसूत्रों का पता लगाया था, जिससे मातृ-कुक्षिस्थ गर्भ का माता और गर्भ से सम्बन्ध बना रहता है। इसी प्रकार सुश्रुत के रचयिता आचार्य ने भी पता लगाया और आधुनिक शरीर-विज्ञान भी इसी परिणाम पर पहुँचा है।

अन्तः-उपवीत का प्रथम सूत्र—

मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाडी प्रतिबद्धा भवति साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति।

सुश्रुत ३६

निश्चय ही माता की रसवाही नाड़ी से गर्भ-नाड़ी प्रतिबद्ध होती है। वह नाड़ी ही माता के खाए हुए आहार-रस और शक्ति को ले जाती है—**तेन उपस्नेहेन** उस उपस्नेह से ही गर्भ की अभिवृद्धि होती है।

उपरिलिखित प्रमाण से सिद्ध हुआ कि गर्भ की अभिवृद्धि के लिए उपस्नेह को वहन करनेवाली जो रसवहा नाड़ियाँ हैं वे ही अन्तः-यज्ञोपवीत का एक सूत्र हैं।

शुभ्र उपवीत का प्रथम सूत्र—

ठीक इसी प्रकार आचार्य द्वारा शिष्य का उपनयन में जो बाँधने वाला शिक्षा-सूत्र है जिसे यज्ञोपवीत कहते हैं, उसमें एक सूत्र अवश्य है जिससे आचार्य और शिष्य में 'उपस्नेह' बना रहता है। इसका आशय यह है कि—आचार्य शिष्य में अपना वात्सल्य-रस प्रवाहित करता है जिससे ब्रह्मचारी के शरीर-वृद्धि के कारण उपस्नेह का परिपाक होता रहे। इसीलिए तो उपनयन-संस्कार में यज्ञोपवीत पहनाने के उपरान्त आचार्य शिष्य की नाभि का स्पर्श करता है, जिसका प्रयोजन यही होता है कि तेरे नाभि-केन्द्र में रहनेवाले वीर्य-रस के परिपाक का दायित्व मुझपर है,

जिससे तेरे स्थूल शरीर की अभिवृद्धि हो, तू दीप्तिमान् हो, कान्तिमान् हो ।

अन्तः-उपवीत का द्वितीय सूत्र—

आचार्य चरक, मातृ-हृदय और गर्भ-हृदय के परस्पर बन्धन के द्वितीय अन्तःसूत्र का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

मातृजं चास्य हृदयं तद्रसहारिणीभिः धमनीभिः, मातृहृदयेन अभिसम्बद्धं भवति। तस्मात् तयोः ताभिः श्रद्धा सम्पद्यते।

चरक० शरीर० ४/१५

अर्थात् माता से उत्पन्न इस गर्भ का हृदय उन रसवाहिनी धमनियों के द्वारा माता के हृदय से बँधा होता है। इसी कारण **"तयोः"** उन दोनों मातृ-हृदय और गर्भ-हृदय में श्रद्धा उत्पन्न होती है, **तथा च तयोः** उन दो हृदयों की एकार्पितता के कारण ही माता को **दौहृदिनी इत्याचक्षते** दो हृदयवाली कहते हैं।

ऊपर के उद्धृत प्रमाण से यह सिद्ध हुआ कि माता और गर्भ के हृदयों को जोड़नेवाले कोई अन्तःसूत्र अवश्य हैं जिन्हें यहाँ धमनियाँ कहा गया है, जो उस अन्तः यज्ञोपवीत का द्वितीय सूत्र है, जिससे परस्पर हृदय अभिसम्बद्ध रहते हैं और दोनों के हृदयों में परस्पर श्रद्धा अनुभव की जाती है। उन दिनों माता वही कुछ चाहती है जो गर्भस्थ हृदय चाहता है।

शुभ्र उपवीत का द्वितीय सूत्र—

दूसरा जन्म पाने के लिए आचार्य के उदर में आए ब्रह्मचारी-गर्भ के हृदय को आचार्य के हृदय से बाँधनेवाले किसी शिक्षासूत्र की आवश्यकता है, जिसका प्रतीकभूत यज्ञोपवीत का द्वितीय सूत्र है जो दोनों के हृदयों में श्रद्धा नामक तत्त्व को उत्पन्न करता है। यही श्रद्धा वह रस है जिससे बालक का हृदय परिपक्व होता है। इसीलिये तो उपनयन-संस्कार में आचार्य शिष्य के हृदय का स्पर्श करता है। इसका

प्रयोजन शिष्य के हृदय के रक्षण तथा विकास के उत्तरदायित्व को अनुभव करना है।

अन्तः-उपवीत का तृतीय सूत्र—

पंचमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति। षष्ठे बुद्धिः। सप्तमे सर्वांग- प्रत्यंग विभागः प्रव्यक्ततरो भवति। अष्टमेऽस्थिरीभवति ओजः। तत्र जातश्चेन्न जीवेत, निरोजस्त्वात्। मी० सा० शरीर स्थान अ०, सूत्र ३०

पाँचवें महीने में गर्भ का मन तैयार हो जाता है, छठे मास में बुद्धि, सातवें महीने में सभी अंग-प्रत्यंग विभागशः बँटे हुए प्रतीत होते हैं। आठवें महीने में प्रायः ओज नामक रस अस्थिर हुआ करता है। ओज की अस्थिर अवस्था में यदि गर्भ का जन्म हो जाय तो शायद न जी पावे, **निरोजस्त्वात्** ओज-रहित होने से। सामान्यतः **अष्टमे गर्भश्च मातृतः** आठवें मास में गर्भ माता से, माता गर्भ से, दोनों **रसहारिणीभिः वाहिनीभिः** रस हरण करनेवाली वाहिनी नाड़ियों द्वारा **मुहुर्मुहुः** बार-बार **परस्परम् ओजः आददत्** परस्पर ओज का आदान-प्रदान होता रहता है।

इस उद्धरण से स्पष्ट हो गया कि मातृ-मस्तिष्क और गर्भ-मस्तिष्क को जोड़नेवाले कोई अन्तःसूत्र अवश्य हैं, जिनसे ओज नामक रस का परस्पर आदान-प्रदान होता है। गर्भ के जीवन में यही अवस्था सबसे भयावह होती है। यदि इस आदान-प्रदान-प्रक्रिया में जब ओज नामक तत्त्व गर्भ से लौटकर माता में आया हो और कदाचित् उसी समय गर्भ का जन्म हो, तो वह गर्भ के लिए घातक भी हो सकता है। वही तो अन्तिम परिपाक की स्थिति है। यदि यह अपूर्ण रही तो गर्भ की मृत्यु का कारण भी बन सकती है **निरोजस्त्वात्** ओज-विहीन होने से।

शुभ्र उपवीत का तृतीय सूत्र—

आचार्य द्वारा कुमार ब्रह्मचारी के निर्माण की अन्तिम परिपाक की

स्थिति वह होती है, जब विद्यार्थी के मस्तिष्क का परिपाक हो रहा होता है। उस समय आचार्य-शिष्य में परस्पर ज्ञानरूपी ओज का आदान-प्रदान हो रहा होता है। शिष्य अनेकों शंकाएँ उपस्थित कर आचार्य के मस्तिष्क से ज्ञान-रस लेता है जिससे कि अन्तिम रूप में परिपक्व हो जाए। यहाँ भी आचार्य और शिष्य के मस्तिष्क को बाँधनेवाले किन्हीं अदृश्य शिक्षा-सूत्रों का प्रतीकभूत तृतीय सूत्र अवश्य होता है, जो परस्पर ज्ञान-ओज का आदान-प्रदान किया करता है।

इस प्रकार आचार्य और ब्रह्मचारी के परस्पर नाभि, हृदय व मस्तिष्क को बाँधनेवाले शैक्षणिक सूत्र ही यज्ञोपवीत के तीन सूत्र हैं; जो प्रतीकस्वरूप आज भी उपनयन-संस्कार में विद्यमान हैं; इन्हीं से ब्रह्मचारी आयुष्मान्, वर्चस्वी, तेजस्वी और ओजस्वी बनता है।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुम् अभिसंयन्ति देवाः॥

अथर्व० ११/५/३

यदि अथर्ववेद (११/५/३) का यह मन्त्र न होता तो मानव-समाज शिक्षा-शास्त्र के कितने ही मौलिक तत्त्वों के परिज्ञान से वंचित रह जाता। शिक्षा-विशेषज्ञों को अब भी इस मन्त्र पर, मन्त्र-वर्णित उपमा पर, उसके गहन और गम्भीर आशय पर ध्यान देना चाहिए। इससे निम्न निष्कर्ष निकलते हैं—

१. आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन अवश्य करे।
२. उपनयन की कामनावाला आचार्य ब्रह्मचारी-गर्भ को अपने उदर में ले।
३. आचार्य अपने उदर में ब्रह्मचारी-गर्भ का धारण और पोषण करे।
४. ब्रह्मचारी-गर्भ को धारण व पोषण कर द्वितीय जन्म दे।
५. और ऐसा जन्म दे कि उसे देखने के लिए देव लोग आयें।

इस मंत्र में आए **"तं गर्भम् उदरे बिभर्ति"** का यही आशय है कि आचार्य ब्रह्मचारी-गर्भ को धारण भी करे और पोषित भी करे। परमात्मा ने मातृ-उदर में बहुत उत्तम प्रबन्ध किया हुआ है, जहाँ एक प्रबन्ध द्वारा धारण किया जाता है, वहाँ दूसरे प्रबन्ध द्वारा उसका पोषण किया जाता है। धारण करने के लिए **परिवीत** का और पोषण के लिए **उपवीत** का प्रबन्ध होता है। इसी उपवीत को वेदों में **पुष्करस्रक्** कहा गया है। इस प्रबन्ध द्वारा ही प्रकृति अपने कोमल हाथों में गर्भ को धारित-पोषित किए रहती है। परमात्मा की ओर से ये दो प्रबन्ध निम्न प्रकार हैं—

गर्भ इस प्रकार के आवरण में बन्द रहता है कि बाह्य वातावरण का, बाह्य हलचल का, बाह्य धक्के का, उसपर कोई प्रभाव नहीं होता। वह आवरण एक झिल्ली-मात्र होता है, जिसे वैदिक भाषा में उल्व, लौकिक संस्कृत में जरायु और याज्ञिक भाषा में परिवीत कहते हैं[१]।

इस उल्व, जरायु अथवा परिवीत में गर्भ इस प्रकार धारित और पोषित होता है कि समय से पहले बाह्य वातावरण गर्भ को प्रभावित नहीं कर पाता। उसे किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। बाह्य वातावरण उसे छू भी नहीं सकता। यदि कोई बाह्य झटका अथवा धक्का आता भी है तो प्रकृति ने उस उल्व के अन्दर ऐसा उत्तम प्रबन्ध किया होता है कि गर्भ कुछ हिलोर लेकर पुनः अपनी उचित स्थिति में आ जाता है। यह प्रबन्ध जल के कारण होता है जो उल्व वा परिवीत में भरा रहता है, जिसे वैदिक भाषा में **आपः** कहते हैं। उसी आपः में गर्भ तैरता रहता है। बाह्य वातावरण का झोंका आया भी, तो गर्भ

---

१. जरायु को 'उल्व' इसलिए कहते हैं कि वह गर्भ को आच्छादित किए रहता है, आवरण व संवरण किए रहता है—ओलति उल्यते वा वल्यते वा (वल संवरणे) उल्वम्। जो सब ओर से ढक लेता है उसे उल्व कहते हैं। अथवा 'ऊर्णुञ् आच्छादने' से निष्पन्न होने पर उल्व वह आवरण है जो गर्भ को आच्छादित किए रहता है।

तैरकर इधर-उधर हो गया। जहाँ उसका प्रभाव समाप्त हुआ कि गर्भ पुनः यथास्थान आ गया। वास्तव में गर्भ इस उल्व में वर्तमान आपः से, जलाशय से धारित और पोषित रहता है। धारित और पोषित करने के कारण ही इस जलाशय की एक संज्ञा पुष्कर है। माता से सम्बद्ध गर्भ को **पुष्कर** में तैरने की सुविधा प्रदान करनेवाले सूत्र की संज्ञा **पुष्करस्रक्** है; जिसे गर्भ ने धारण किया होता है, उसी का प्रतीक यह शुभ्र यज्ञोपवीत है।

यह **पुष्करस्रक्** ही तो है जिससे माता और गर्भ का परस्पर उपनयन होता है। यही तो वह सूत्र है जिसके माध्यम से माता और गर्भ के 'अन्न, प्राण और मन' परस्पर आबद्ध रहते हैं। यह पुष्करस्रक् ही वह यज्ञोपवीत है जिससे बँधा हुआ गर्भ बाह्य वातावरण के थपेड़ों में भी स्थिर और अविचल रहता है, पुष्कर में स्नान करता रहता है। इस पुष्कर में प्रत्येक जीव को स्नान करना ही होता है, स्नातक बनना ही होता है, तब ही गर्भाशय से मुक्ति संभव है, तब कहीं जन्म धारण करना है। ध्यान रहे कि द्विज के लिए द्वितीय जन्म धारण करने से पूर्व भी स्नान करना आवश्यक है। स्नान के लिए आचार्य द्वारा निर्मित ज्ञान-समुद्र ही वह पुष्कर है जिसमें ब्रह्मचारी धारित और पोषित होता है, स्नान करता है, निष्णात होता है, तब कहीं विद्यालय से मुक्ति संभव है। तब कहीं जाकर 'द्विज' उपाधि से अलंकृत होता है।

वेद-वर्णित इस सूत्र को जिसमें सब प्रजाएँ पिरोई हुई हैं और जिसे प्राचीन ऋषियों ने समाधि में प्रत्यक्ष किया और जिसे प्रजापति का परम पवित्र सहज यज्ञोपवीत कहकर गौरवान्वित किया एवं उसी के प्रतीकभूत सूत्रनिर्मित शुभ्र यज्ञोपवीत को उपनयनार्थ आए अन्तेवासी के गले में पहना दिया। उसे ही आजकल के चिकित्सा- विज्ञान ने यन्त्रों द्वारा प्रत्यक्ष कर लिया है। उसका प्रत्यक्ष चित्रण पठकों के ज्ञानार्थ दे रहे हैं।

अपरा की शरीर-क्रिया
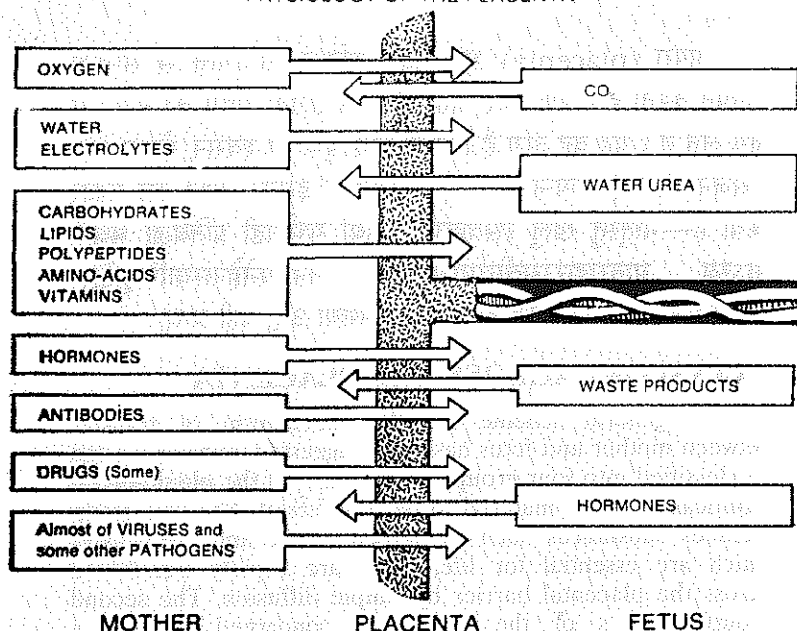
--Scheme to show the interchange of substances between the mother and fetus.

चित्र सं० १

चित्र संख्या १ का परिचय

चित्र-संख्या १ में पाठक देख सकते हैं कि—एक सीधी पट्टिका है जिसे दोनों ओर तीर बींध रहे हैं; इसे आंग्ल भाषा में प्लैजेंटा और हिन्दी भाषा में **अपरा** कहते हैं। ठीक अपरा के मध्य दाहिनी ओर से तिहरी रज्जु आकर जुड़ गई है, जिसे लोक में आँवनाल, वैद्यक ग्रन्थों

में अमृता नाड़ी, वैदिक भाषा में पुष्करस्रक् तथा याज्ञिकों की परिभाषा में सहज यज्ञोपवीत कहते हैं। ये ही वे सूत्र हैं जिनके माध्यम से माता और भ्रूण में विभिन्न रासायनिक तत्त्वों का परस्पर विनिमय होता है।

अपरा (placenta) भ्रूण का गर्भाशय की भित्ति से सम्बन्ध स्थापित करता है। भ्रूण और माता दोनों के ऊतक अपरा को बनाने में भाग लेते हैं। यह वह अंग है जिसके द्वारा भ्रूण की श्वसन, पोषण और उत्सर्जन क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। सुश्रुत में इसका वर्णन इस प्रकार किया है—**मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाडी प्रतिबद्धा भवति साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्-भवति॥३६॥** (व्याख्यार्थ देखिए पृष्ठ-संख्या ३९, यही ग्रन्थ)

TRANSPORT ACROSS THE PLACENTA

A general scheme for the mechanism of transfer between mother and fetus has been suggested. Substances can be classified into four groups on the basis of the physiological significance of the material to be transferred. The first group includes substances such as oxygen, water and electrolytes which are essential for life; these are rapidly transferred across the placental barrier by simple diffusion. The second group consists of the substances concerned with fetus nutrition (glucose, amino-acids, lipids and vitamins) and in their transfer active processes are involved. The third group is made up of substances regulating metabolic activity; while little is known of their mechanism of transfer certain of them (thyroxin, hydrocortisone and gonadotropin) are believed to diffuse slowly across the barrier. The fourth group includes macromolecules of immunological importance. Pinocytosis may play a part in the transport of macromolecules and of fluid from the intervelous space into the vacular system of the syncytium. There is a considerable variation in the rate of transport from mother to fetus.

माता व भ्रूण के मध्य पदार्थों का अपरा द्वारा परस्पर विनिमय

माता व भ्रूण के मध्य पदार्थों के परस्पर विनिमय की एक सामान्य प्रक्रिया है। शरीरविज्ञान के आधार पर उन पदार्थों को चार विभागों में बाँटा जा सकता है—

(१) प्रथम वर्ग में जीवनवायु (ऑक्सीजन), जल, लवण आदि आते हैं जो जीवन के लिए आवश्यक हैं। ये पदार्थ शीघ्रता से जरायु में उसकी पूरी परिधि तक पहुँचकर व्याप्त हो जाते हैं।

(२) दूसरे वर्ग में भ्रूण के पोषण से सम्बन्धित पदार्थ आते हैं, यथा ग्लूकोज़, अमीनो एसिड, वसा-कण तथा विटामिन, जो सक्रिय प्रक्रिया से ही गर्भ में स्थानान्तरित होते रहते हैं।

(३) तीसरे वर्ग में वे पदार्थ आते हैं जो भ्रूण में वृद्धि, चय-उपचय को नियन्त्रित करते हैं। उनकी प्रक्रिया के विषय में हमारा ज्ञान बहुत न्यून है। उनमें से कुछ हैं—थाइरॉक्सिन, हाइड्रोकोरटिसोन व गोनाडोट्रोपिन। ऐसा अनुमान है कि ये पदार्थ जरायु की दीवार के माध्यम से धीरे-धीरे अन्दर स्रवित होते रहते हैं।

(४) चौथे वर्ग में माता द्वारा उत्पन्न किए रोगों से रक्षा करनेवाले औषधरूप स्थूल परमाणुओं व तरल द्रव्यों को आन्तरिक रेशेदार स्थान से (Intervelous Vocular space) तक पहुँचने की प्रक्रिया में pinocytosis भी भाग सकते हैं। इस प्रकार आदान-प्रदान तथा गति में परिवर्तन होता रहता है।

चित्र सं० २

Radiograph of part of the umbilical cord of a 135mm. G.R. length fetus to show the spiral twisting of the arteries and the presence of constrictions.

विकिरण चित्र में १३५ मि०मी० लम्बाई के भ्रूण की नाभि-नाड़ी में बटीहुई मावदार शिराएँ व धमियाँ तथा उनमें गाँठें साफ दिखाई दे रही हैं। इसी को हमने प्रजापति का सहज त्रिवृत्त सूत्र कहा है जिस प्रकार इस अन्तःसूत्र में बल चढ़ते वैसे ही विद्याचिह्न शुभ्र यज्ञोपवीत में तिहरे-तिहरे सूत्र होते हैं।

ज्ञान-पुष्कर में निर्बाध तैरने के लिए आचार्य किन्हीं सूत्रों से ब्रह्मचारी-गर्भ को बाँधे रहता है। यदि ब्रह्मचारी इन सूत्रों से न बँधा हो तो बाह्य वातावरण की हल्की-सी थपेड़ भी ब्रह्मचारी को डुबो दे।

आचार्य को भी ब्रह्मचारी-गर्भ को धारण करते समय इन दोनों ही वीतियों का विशेष ध्यान रखना होगा। उसे जहाँ परिवीत का प्रबन्ध करना होगा, जहाँ उस ब्रह्मचारी के स्नानार्थ पुष्कर का प्रबन्ध करना होगा, वहाँ ब्रह्मचारी को पुष्करस्रक् (यज्ञोपवीत) से बाँधना भी होगा। आचार्य को इस प्रकार का परिवीत तैयार करना होगा जिसमें रहकर ब्रह्मचारी धारित और पोषित हो, बाह्य वातावरण उसे उद्वेलित न कर सके। वह उस परिवीत के कारण शिक्षापुष्कर में कमलपत्रवत् तिरता रहे। बाह्य वात से कदाचित् पुष्कर में कोई तूफान आए भी तो ब्रह्मचारी हल्की-सी हिलोर लेकर पुनः अपनी स्थिति में आ जाए। इसी आवरण को जहाँ प्रजनन-कक्ष में उल्व अथवा जरायु कहते हैं, वहाँ शिक्षण-कक्ष में परिवीत कहते हैं। आचार्य गुरुकुल का ऐसा आवरण निर्माण करे कि ब्रह्मचारी उससे बाहर न जाए और न बाह्य स्थितियों का उसपर प्रभाव ही पड़े। गुरुकुल वा शिक्षणालय का आवरण इतना सुदृढ़ होना चाहिए कि सांसारिक वातावरण ब्रह्मचारी को छू भी न सके। प्राचीन काल में इसी आवरण के निर्माण-हेतु गुरुकुल नगरों से दूर रखे जाते थे, तभी आचार्य गर्भभूत ब्रह्मचारी का धारण-पोषण कर सकता था। ब्रह्मचारी को स्नातक हुए बिना जाने नहीं दिया जाता था।

आचार्य द्वारा निर्मित गुरुकुलीय परिवीत में वेद-पुष्कर बना होता था; आस्तिकता की मधुर-मन्द समीर चला करती थी। वीर्यरक्षा, शालीनता और वृत्त की सुगन्धि पुष्करजल और वायु को सुरभित रखते थे, जिसपर बाह्य नास्तिकता, भोगविलासिता, अनैतिकता, उच्छृङ्खलता आदि की धूल कोई प्रभाव नहीं डाल पाती थी, अपितु इस गुरुकुलीय वातावरण का प्रभाव इतना दूरगामी होता था कि बाह्य वातावरण भी

इसके अनुकूल होकर बहने लगता था और इसके निकट आने पर तो उसमें भी एक अद्‌भुत तन्मयता आ जाती थी।

यह सारी बात वेद के इस मन्त्र-चरण में निहित है कि **आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः""तं उदरे बिभर्ति॥**

आचार्य उपवीत पहनाने से पहले ब्रह्मचारी को वस्त्र पहनाता है, उसे ही परिवीत कहते हैं। यह वस्त्र उसके भौतिक शरीर को बाह्य वातावरण से, शीत-उष्ण, हेमन्त-शिशिर, वर्षा-वसन्त आदि की चोट से रक्षा करता है, सर्वथा उस उल्ब की भाँति जो मातृ-कुक्षि में गर्भ को मिला होता है, जो गर्भ की बाह्य वातावरण से रक्षा करता है; तद्वत् वेद-माता की कुक्षि में भी आचार्य अपनी गुरुता से ऐसे वातावरण का निर्माण करता है जिसमें ब्रह्मचारी हँसता-खेलता विकास पाता है। बाह्य आकर्षण उसे अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाते। प्रथमतः तो उनकी दूषित हवाएँ भी वहाँ नहीं फटकतीं; यदि कहीं आईं भी, तो ब्रह्मचारी का मनोबल इतना दृढ़ होता है कि उन सबका प्रतीकार कर सकता है, गुरुकुलीय चरित्र-चट्टान से टकराकर वे वापस चली जाती हैं।

यदि कोई रूपतरंग यहाँ के वातावरण में विक्षोभ उत्पन्न करने के लिए उठी कि ब्रह्मचारी के दृष्टि-पथ में आते ही उसने अपना रूप ही बदलकर मातृरूप धारण कर लिया। आचार्य ने ऐसा उपनयन दिया होता है जिसमें हर रूप माँ ही माँ नज़र आता है। यदि कोई शब्द-लहरी ब्रह्मचारी के कान पर आकर टकराई तो अपना-सा मुँह लेकर वहीं से चलती बनी कि इसके कानों में तो श्रुति ने स्थान बनाया हुआ है, हमारी यहाँ गुंजाइश कहाँ है? यही अन्य विषयों का हाल है।

गुरुकुल-प्रवेश के समय पिता ने उपदेश दिया था कि (अष्टविध) **मैथुनं वर्जय**। आचार्य इस बात का प्रबन्ध करे कि ब्रह्मचारी आठ प्रकार के मैथुनों से बचा रहे। गुरुकुलीय वातावरण (परिवीत) के कारण जहाँ ब्रह्मचारी ने इन अष्ट मैथुनों से मुँह फेर लिया, वहाँ स्वयं अष्ट

मैथुनों ने भी ब्रह्मचारी से मुँह फेर लिया। क्योंकि, यहाँ तो ब्रह्मचारी ने हर द्वार पर लिखकर लगा दिया है—'बिना आज्ञा प्रवेश निषिद्ध है!' चलो कहीं अन्यत्र ठिकाना बनाएँ। यह उस परिवीत का ही प्रभाव है जो आचार्य ने ब्रह्मचारी को वेदमाता के उदर में लेते समय बना दिया है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि ब्रह्मचारी संसार से सर्वथा अलग रहेगा अथवा उससे सम्बन्ध टूट ही गया है। आचार्य ने इसके लिए दूसरी वीति का प्रबन्ध किया है और वह वीति है उपवीत। इसके द्वारा आचार्य शिष्य का उपनयन करेगा। यह उपनयन ही वह माध्यम होगा जिसके द्वारा ब्रह्मचारी का संसार से सम्बन्ध टूटने न पाएगा। ब्रह्मचारी साँस लेगा तो उसी हवा में, देखेगा तो उसी के दृश्यों को और सुनेगा, चखेगा, छुएगा, सब होगा, परन्तु उपनयन के माध्यम से। ब्रह्मचारी देखेगा तो आचार्य की आँखों से। ब्रह्मचारी चखेगा आचार्य की रसना से। ब्रह्मचारी सूँघेगा आचार्य की नासिका से। ब्रह्मचारी छुएगा तो आचार्य की त्वचा से। बस यही आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी का उपनयन है। आचार्य परिवीत द्वारा संसार से दूर रखेगा, परन्तु उपवीत द्वारा उसे संसार में प्रवेश कराएगा। परिवीत के द्वारा ब्रह्मचारी-गर्भ का धारण और उपवीत के द्वारा ब्रह्मचारी-गर्भ का पोषण होगा। यह सब विस्तार वेदमन्त्र के इस वाक्य में निहित है—

"उपनयमानः आचार्यः तं ब्रह्मचारिणं गर्भं उदरे बिभर्ति"

आचार्य ने शिष्य को परिवीत उढ़ाकर जहाँ बाह्य वातावरण से रक्षा की, वहाँ उपवीत पहनाकर संसार से संपर्क बनाए रखा; अब ब्रह्मचारी खाता है आचार्य के मुख से, वह साँस लेता है आचार्य के नथुनों से, वह देखता है आचार्य की आँख से, वह सुनता है आचार्य के कान से, वह स्पर्श करता है आचार्य की त्वचा से। इतनी समीपता आचार्य और ब्रह्मचारी में होती है। ऐसा उपनयन जिन सूत्रों से होता है उसी का नाम यज्ञोपवीत है। परिवीत जहाँ जागतिक वातावरण से रक्षा

करता है वहाँ उपवीत जामतिक सम्पर्क को मर्यादित करता है, बस इस उपवीत के विविध सूत्रों को जानना है।

इन परिवीत और उपवीत दोनों वीतियों द्वारा ही गर्भ का उचित विकास होता रहता है। ब्रह्मचारी-गर्भ परिवीत से घिरे पुष्कर में पुष्करस्रक् (यज्ञोपवीत) पहने हुए इस प्रकार तैरता रहता है कि बाह्य झंझावात उसे उद्वेलित नहीं कर पाते; वह स्नान करता है, डुबकी लगाता है, नहाता है, निष्णात होता है, तब कहीं आचार्य द्वितीय समुद्र (गृहस्थाश्रम) में तैरने की छूट देता है। ब्रह्मचारी इतना अच्छा तैराक हो जाता है कि गृहस्थ-समुद्र में भी अबाध तैरता है। उसे वहाँ के थपेड़े कुछ नहीं कर पाते क्योंकि वह ज्ञान-पुष्कर में स्नान कर चुका होता है, जिसका हृदयहारी वर्णन भगवती श्रुति ने इस प्रकार किया है—**तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठित् तप्यमानः समुद्रे। स स्नातो बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते** (अथर्व० ११/५/२६) उन सभी शक्तियों को सामर्थ्ययुक्त करता हुआ ब्रह्मचारी पूर्वसमुद्र = ब्रह्मचर्याश्रम-समुद्र के ज्ञान-जल में तपस्यापूर्वक तैरता है। वह ज्ञान-जल में स्नान किया हुआ स्नातक धारण-पोषण की सामर्थ्यवाला तेजस्वी, बलवान् होकर इस विस्तृत भूमि पर बहुत शोभायमान होता है।

प्रतीकात्मक यज्ञोपवीत का वर्णन—

ज़रा अब इसी प्रतीकभूत 'यज्ञोपवीत' को समझ लिया जाए। इसे पहनाते हुए जिस मंत्र का पाठ किया जाता है उसपर विचार करने से हमारी स्थापना की सम्पुष्टि होती है कि यह शुभ्र यज्ञोपवीत उसी अन्तःयज्ञोपवीत का प्रतीक है इसके सूत्र उसी अन्तःसूत्र के प्रतीक हैं, इसकी ग्रंथि उसी अन्तःग्रंथि का प्रतीक है।

यज्ञोपवीत धारण कराते समय आचार्य जिस मन्त्र का पाठ करके ब्रह्मचारी को शुभ्र यज्ञोपवीत पहनाता है, उस मन्त्र का प्रत्येक पद,

प्रत्येक विशेषण जिसकी ओर निर्देश करता है, उससे तो यही ज्ञात होता है कि वह कोई विशिष्ट यज्ञोपवीत है, सामान्य नहीं। इन विशेषणों पर विचार करने से हमारी इस स्थापना की सम्पुष्टि होती है कि यह यज्ञोपवीत वह है जिसे हर प्राणी ने मातृ-कुक्षि में धारण किया होता है। मन्त्र की शब्दरचना निम्न प्रकार है—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

पा० गृ० सू० २/२/१०
बौधायन० गृ० सू० २/५/७-८; वैखानस २/५

भो ब्रह्मचारिन्! पुरस्तात् प्रजापतेः यत् सहजम् अग्र्यम् आयुष्यम् परमम् पवित्रम् यज्ञोपवीतम् आसीत् तद् प्रतिनिधिभूतमिदं शुभ्रं यज्ञोपवीतं वर्तते, तेन प्रतिमुञ्च। एतत् तुभ्यं बलम् अस्तु तेजः अस्तु।

हे ब्रह्मचारिन्! [तुम्हारे जन्म से पहले मातृकुक्षि में तुम्हारे शरीर के निर्माण के समय, तुम्हारे मातृकुक्षि से जन्म लेने के समय] जो प्रजापति का अतीत (पुरस्तात्), सहज, प्रथम, आयु का हितकारक, परमपवित्र यज्ञोपवीत था उसी का उपलक्षणभूत यह शुभ्र यज्ञोपवीत है, लो इससे बँधो और द्वितीय जन्म की तैयारी करो। यह तुम्हारे लिए बल और तेज का धारण करानेवाला हो।

यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेन उपनह्यामि।

पा० गृ० २/२/१०

हे ब्रह्मचारिन्! त्वम् (यज्ञोपवीतमसि) यज्ञ-उप-वीतम्-असि। यज्ञस्य समीपमानेतुं योग्योऽसि, [अतोऽहम्] (त्वा) त्वाम् (यज्ञोपवीतेन) सूत्रनिर्मितेन शुभ्रयज्ञोपवीतेन (यज्ञस्य) देवपूजा-संगतिकरण-दानकर्मणः (उप) समीपं (नह्यामि) बध्नामि।

हे ब्रह्मचारी! तू यज्ञ के समीप ले-जाया जाने योग्य है। इसलिए मैं तुझको सूत्रनिर्मित शुभ्र यज्ञोपवीत पहनाकर देवपूजात्मक, संगति-

करणात्मक, दानात्मक, संगठनात्मक कर्म के साथ बाँधता हूँ।

उक्त मन्त्रों में प्रयुक्त 'प्रतिमुञ्च' और 'उपनह्यामि' बन्धनार्थक धातुओं के प्रयोग से यह सुस्पष्ट प्रमाणित होता है कि यह सूत्र एक बन्धनसूत्र है। आइए इस मन्त्र के प्रत्येक पद पर विचार करें।

'यत्' सर्वनाम का प्रयोग—

इस मन्त्र में प्रयुक्त यत् सर्वनाम ही इस बात की सुस्पष्ट घोषणा है कि जिस शुभ्र यज्ञोपवीत को आचार्य पहना रहा है, यह एक भिन्न यज्ञोपवीत है, और जिसकी ओर यत् निर्देश कर रहा है वह भिन्न है। मन्त्र में विद्यमान यत् शब्द इसकी ओर निर्देश नहीं कर रहा, अपितु उस यज्ञोपवीत की ओर निर्देश कर रहा है जिसका प्रतीकभूत यह यज्ञोपवीत है। यदि यज्ञोपवीत-मंत्र में इसी शुभ्र यज्ञोपवीत को निर्दिष्ट करना था तो 'यत्' सर्वनाम के स्थान पर 'इदम्' सर्वनाम का प्रयोग अधिक उपयुक्त था। *प्रजापतेर्यत्* के स्थान पर *प्रजापतेरिदम्* होना चाहिए था। इदम् शब्द स्पष्टतः सम्मुख उपस्थित यज्ञोपवीत की ओर निर्देश करता है। यहाँ प्रयुक्त यत् शब्द किसी पूर्व हो चुके या बीते हुए यज्ञोपवीत की याद दिलाता है जो यज्ञोपवीत कभी पहना था। यदि इस मन्त्र में इदम् सर्वनाम का प्रयोग हुआ होता तो अन्य विशेषण इस बात का प्रत्याख्यान कर देते कि विद्यमान शुभ्र यज्ञोपवीत से हमारा सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका प्रत्येक विशेषण विचारणीय है। हमारी प्रतिज्ञा की पुष्टि के लिए तो इस मन्त्र में प्रजापति देवता का प्रयोग ही पर्याप्त है। इस शुभ्र यज्ञोपवीत का वर्णन इसमें नहीं है, अन्यथा 'बृहस्पतेरिदम् निर्मितम्' अक्षर-रचना होनी चाहिए थी; क्योंकि विद्या का क्षेत्र, प्रजापति देवता का क्षेत्र नहीं है, वह तो बृहस्पति देवता का क्षेत्र है। इस विषय में स्पष्टीकरण हम आगे इस मन्त्र-व्याख्या की समाप्ति पर करेंगे, अभी तो हम प्रत्येक विशेषण पर ऊहापोह कर रहे हैं।

पुरस्तात्—

वह यज्ञोपवीत कैसा था जिसकी ओर यत् पद निर्देश कर रहा है? कहते हैं **'पुरस्तात्'**—पहले से था। इस शुभ्र यज्ञोपवीत से पहले था। पुरस्तात् शब्द का प्रयोग जहाँ प्रथम वा अग्र के लिए होता है, वहाँ बीते हुए के लिए भी होता है। यत् पुरस्तात्—जो अतीत था, जिसे इस शुभ्र यज्ञोपवीत के धारण करने से पहले ही धारण किया जा चुका था। यहाँ पुरस्तात् का अर्थ व्यतीत के सिवाय कुछ नही किया जा सकता। यदि कहो कि इसका अर्थ प्रथम वा अग्र भी होता है, तो आपसे हमारा यही निवेदन है कि इसके लिए मन्त्र में 'अग्र्यम्' विशेषण पहले ही विद्यमान है, अतः पुरस्तात् का अर्थ अग्र न होकर व्यीततम् होगा, जो पहले पहना जा चुका था, जो अतीत हो गया। इस अर्थ की पुष्टि पुरस्तात् विशेषण से पहले प्रयुक्त **'सहजम्'** पद कर रहा है। **यत् पुरस्तात् सहजं यज्ञोपवीतम्**—जो अतीत मातृ-उदर में सहजम् (एक-साथ) उत्पन्न हुआ था—वह सहज यज्ञोपवीत।

सहजम् = स्वाभाविक—

सहज शब्द का रूढ़ अर्थ है—स्वाभाविक (अनायास) और एक-साथ उत्पन्न। जो इतना स्वाभाविक था कि उसे पहनाने के लिए कभी किसी प्रकार के आग्रह व प्रेरणा की आवश्यकता नहीं हुई। वह तो जैसे ही कोई जीव-आत्मा मातृ-उदर में गर्भ बनी कि उसके साथ उस अन्तःयज्ञोपवीत की उत्पत्ति हो गई। यदि वह (सहज यज्ञोपवीत) न होता तो आत्मा का प्राणन कैसे होता? परिपाक ही कैसे होता? मातृ-कुक्षि में जीवन ही कैसे चलता? आयु के लिए वह हितकर कैसे होता? इसलिए सहजम् विशेषण दिया कि वह यज्ञोपवीत सहज है।

आत्मा ने प्रवेश किया कि उसे सहज यज्ञोपवीत मिल गया। इससे अगला विशेषण है—अग्र्यम्।

अग्र्यम् यज्ञोपवीतम्—

अग्रे भवम् अग्र्यम्, आगे हो चुका, सबसे प्रथम, प्रधान वा उत्तम। यह यज्ञोपवीत जो अतीत हो चुका, जो सहज था। वह प्रधान और प्रथम भी था। प्रथम इसलिए कि दो योनियों से जन्म प्राप्त द्विज व्यक्ति का पहला जन्म जिस यज्ञोपवीत पर आधारित है, वह अग्र्यम् है। उस अग्र जन्म का कारण होने से जिसे अग्र्यम् कहा है, वह प्रथम है, प्रमुख है वा प्रधान है। कहा भी है—**"मातुरग्रेऽधिजनं द्वितीयं मौञ्जीबन्धने। तृतीयं यज्ञदीक्षायाम्।**[1] **अग्रे मातुरधिजननम्।** आरम्भ में सर्वप्रथम माता से जन्म होता है, इत्यादि। इसलिए अग्र जन्म में हो चुका यज्ञोपवीत ही अग्र्यम् कहलाएगा; अतः सिद्ध हुआ कि मन्त्र-निर्दिष्ट सभी विशेषण इस सम्मुख उपस्थित शुभ्र यज्ञोपवीत से भिन्न किसी यज्ञोपवीत के लिए हैं।

आयुष्यम् यज्ञोपवीतम्—

यज्ञोपवीत का आयुष्यम् विशेषण तो और भी स्पष्टतया उस यज्ञोपवीत की ओर निर्देश कर रहा है, जिसे हर प्राणी ने जन्म से पूर्व मातृ-कुक्षि में धारण किया होता है। यदि इस शुभ्र यज्ञोपवीत के अतिरिक्त कोई अन्तःयज्ञोपवीत माना न जाए तो इसके लिए 'आयुष्यम्' विशेषण व्यर्थ होगा, क्योंकि यह शुभ्र यज्ञोपवीत किसी भी प्रकार आयु के लिए हितकारक नहीं हो सकता। फिर भी मन्त्र में आयुष्यम् विशेषण पड़ा हुआ है। यह यज्ञोपवीत जिसे आयुर्वेद-शास्त्र में **अमृता नाडी** कहते हैं, जिसे स्वयं श्रुति ने **पुष्करस्रक्** कहा है, निस्सन्देह आयु का हितकारक है। गर्भ का जीवन इसी पर आश्रित है। यह यदि कहीं टूट

१. मनु० २/१६९

जाय, तो गर्भ की आयु समाप्त! इसलिए आयुष्यम् का अर्थ हुआ 'आयोर्हितकारकम्'—आयु के लिए हितकारक। किस आयु के लिए? आयु वह जीवनव्यापी काल है जो मातृ-उदर में व्यतीत हो चुका है। गर्भाधान से लेकर जन्म तक का 'जीवित व्यापी काल' आयु कहलाएगा।

परमं यज्ञोपवीतम्—

यज्ञोपवीत मन्त्र में प्रयुक्त एक विशेषण परमम् भी है। जो यज्ञोपवीत प्रजापति का है, वह परमम् है, उत्कृष्टता को मापनेवाला है। परमात्मा ही उत्कृष्टता के मापनेवाले हैं। इसीलिए उनके साथ परम शब्द का प्रयोग होता है। यदि हम आत्मा हैं तो वह परम आत्मा है। यदि हम ईश्वर हैं तो वह परम ईश्वर है। जिस भी गुण में परम का योग हुआ वह महान् का बोधक हो गया। उस परम के द्वारा पहनाया जाने से यह यज्ञोपवीत भी **"परमं यज्ञोपवीतम्"** कहलाया। सभी पराकाष्ठाएँ ब्रह्म में ही निहित हैं।

इन्द्रियों से परम अर्थ हैं, अर्थों से परम मन है, मन से परम बुद्धि, बुद्धि से परम महान् है और महान् से परम अव्यक्त जीवात्मा और अव्यक्त जीवात्मा से भी परम पुरुष है। पुरुष उत्कृष्टता की पराकाष्ठा है। उससे परम कोई चीज़ नहीं, कुछ नहीं। सो उस परम द्वारा पहनाया यज्ञोपवीत भी परमम् यज्ञोपवीत है। वह 'परम' समस्त उपवीतों की पराकाष्ठा है।

वह परमा गति भी है। बिना इस अन्तःयज्ञोपवीत को धारण किए जीव की कोई गति ही नहीं। जिस जीव को यह यज्ञोपवीत मिला, उसके शरीर की तैयारी आरम्भ हो गई, उसे नया चोला मिल गया, नया देह मिल गया, जिसमें आकर वह उत्कर्ष की ओर कदम बढ़ा सकता है; पिछले किये कर्मों का प्रक्षालन और अगले कर्मों का निर्माण कर सकता

है; संचित कर्मों द्वारा भोग और अगले उत्कृष्ट कर्मों द्वारा अपवर्ग दोनों का लाभ करता है। बस, इस भोग और अपवर्गरूप उत्कर्ष को नापने का हेतु होने से यह यज्ञोपवीत परमम् कहलाया।

पवित्रं यज्ञोपवीतम्—

मन्त्र में वर्णित यज्ञोपवीत के विशेषणों में अन्तिम विशेषण **'पवित्रम्'** रह गया। यह विशेषण तो स्पष्टतः उसी अन्तःयज्ञोपवीत की ओर निर्देश करता है।

पवित्र शब्द के लोक-प्रसिद्ध अर्थ शुद्ध, स्वच्छ, साफ, निर्मल, इत्यादि हैं। परन्तु यहाँ पवित्र शब्द का गम्भीरार्थ है वह साधन, जिससे किसी वस्तु को छाना जाय। इसीलिए छानने का साधन छाननी को भी पवित्रम् कहते हैं। "पूयते अनेनेति पवित्रम्"—साफ किया जाता है इससे, इसलिए इसे पवित्र कहते हैं। अब मातृ-कुक्षि में गर्भभूत जीव जिस अन्तःयज्ञोपवीत को धारण किए होता है, वह ऐसा पवित्र है कि जिसमें से माता के द्वारा खाए, पीए और चाटे हुए आहार से बना हुआ रस छन-छनकर जाता है, रक्त छन-छनकर जाता है; प्राणों का आदान-प्रदान भी इसी पवित्र के द्वारा होता है। यदि यह पवित्रम् = छाननी न हो तो जीव को किसी प्रकार भी शुद्ध रक्त, शुद्ध रस, वा शुद्ध प्राण की उपलब्धि न हो सके। यदि इन रसों की उपलब्धि न हो तो जीव के देह का प्राणन, जीवन, संवर्द्धन असम्भव हो जाय। अतः द्विज बनने के लिए इसी अन्तःयज्ञोपवीत के प्रतीकभूत शुभ्र यज्ञोपवीत की उपलब्धि हो वा न हो, परन्तु इस अग्र्यं यज्ञोपवीत की उपलब्धि हुए बिना प्रथम जन्म की उपलब्धि असम्भव है। इसीलिए मन्त्र का यह विशेषण शुभ्र यज्ञोपवीत के लिए न होकर प्रजापति द्वारा प्रदत्त अन्तःयज्ञोपवीत के लिए है।

यदि पवित्र शब्द का लोक-प्रसिद्ध अर्थ शुद्ध, स्वच्छ, साफ, निर्मल

आदि भी लिया जाय तो वह अर्थ भी तो इस बाह्य यज्ञोपवीत पर नहीं घटता।

बाह्य यज्ञोपवीत अभी धोया कि झट मैला हो गया। न केवल मैला हो गया अपितु कुछ दिनों में ही टूट गया वा छीज गया। फिर नया बदलो। परन्तु उदरस्थ गर्भ को प्रजापति द्वारा पहनाया हुआ यज्ञोपवीत ऐसा पवित्र है कि उसपर मैल चढ़ती ही नहीं। टूटने वा छीजने का क्या काम? एक बार का पहना हुआ यह उस समय तक रहता है, जब तक गर्भ का जन्म न हो ले। गर्भ-स्थापन से गर्भ-जन्म तक यह बना रहता है। अगर इसे भी प्रतिदिन बदलना पड़े तो जीव का शरीर-धारण सर्वथा असम्भव है। अतः आचार्य इस वर्तमान शुभ्र यज्ञोपवीत को पहनाते हुए कहता है—"यह उस अन्तःयज्ञोपवीत का प्रतीकभूत शुभ्र यज्ञोपवीत है, जिसे तुमने अपने प्रथम जन्म के समय धारण किया था। अब तुम्हारे दूसरे जन्म की तैयारी है। तो आओ अब इस शुभ्र यज्ञोपवीत से बँधो।"

प्रजापतेर्यत्—

इस मन्त्र में यज्ञोपवीत का प्रजापति से सम्बन्ध दिखाया गया है। **प्रजापतेर्यत्**—जो कि प्रजापति का है। वास्तव में आचार्य-शिष्य से सम्बन्धित शिक्षाक्षेत्र में प्रजापति का क्या काम? यह क्षेत्र तो बृहस्पति का है। फिर बृहस्पति देवता को स्मरण न करके प्रजापति को स्मरण क्यों किया गया?—यह बताने के लिए कि बृहस्पति-कक्षा का यज्ञोपवीत प्रजापति-कक्षा के यज्ञोपवीत की नकल है। कक्षा-भेद से जहाँ देवता भिन्न-भिन्न हैं, वहाँ उनके यज्ञोपवीत भी भिन्न-भिन्न और उनके जन्म भी भिन्न-भिन्न हैं।

प्रजापति की कक्षा (क्षेत्र) —

वेद में अनेक कक्षाओं का वर्णन है जिनके माध्यम से साधारण

व्यक्ति वेदों में अनेक विज्ञानों का पता लगा सकता है। इन कक्षाओं के भेद का कारण वेदों का 'बहु-देवतावाद' ही है। मन्त्र में आए 'प्रजापतेर्यत्' से तो प्रजनन-कक्षा का ही बोध होगा। प्रत्येक देवता की अपनी-अपनी कक्षा है, अपना-अपना क्षेत्र है। जिस कक्षा का देवता प्रजापति हो तो समझना चाहिए कि यह क्षेत्र प्रजनन-सम्बन्धी है। विवाह-संस्कार के आरम्भ में ही वर्णन है **"इमं ते उपस्थं मधुना संसृजामि। प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम्"**। (मन्त्रब्राह्मण १/१/३) यहाँ स्पष्ट ही प्रजनन-विद्या का उल्लेख है। जहाँ भी उत्पत्ति का वर्णन आएगा वहाँ प्रजापति देवता लाए जायेंगे।

विवाह-संस्कार में प्रजापति का वर्णन—

विवाह-संस्कार में विहित है कि वर-वधू एक-दूसरे का हृदय-स्पर्श करें। हृदय-स्पर्श करते समय जो मंत्र पढ़ा जाता है उसमें प्रजापति देवता का स्मरण किया गया है। **"प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्।"**—हे देवि! प्रजापति तुमको मेरे लिए नियुक्त करे।

उपनयन-संस्कार में भी यह मन्त्र विहित है कि आचार्य एवं शिष्य परस्पर एक-दूसरे का हृदय-स्पर्श करें और हृदय-स्पर्श करते समय निम्न मन्त्र पढ़ें—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

पार० गृह्य० २/२/१६

दोनों संस्कारों में परस्पर हृदय-स्पर्श का विधान है और हृदय-स्पर्श करते समय मन्त्र का विनियोग है। सम्पूर्ण मन्त्र के एक-से चरण हैं, एक-से पद हैं, एक-से अक्षर हैं; सिवाय एक शब्द को छोड़ कर और वह है उनके विभिन्न देवता—प्रजापति और बृहस्पति। वर-वधू जिस संस्कार में दीक्षित हैं वह प्रजनन से सम्बद्ध है। वहाँ

हृदय-स्पर्श करते समय प्रजापति देवता की स्मृति ही उपयुक्त है। आचार्य और शिष्य जिस संस्कार में दीक्षित हैं, वह शिक्षण से सम्बद्ध है। शिक्षण-क्षेत्र में उससे सम्बद्ध देवता बृहस्पति का स्मरण करना ही उपयुक्त है। अतः 'प्रजापतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यम्' न कहकर 'बृहस्पतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यम्' कहा जाता है। समस्त रचना एक-सी है, परन्तु क्षेत्र-भेद से देवता-भेद हो गया।

प्रश्न उठता है कि बृहस्पति देवता का क्षेत्र शिक्षा से सम्बद्ध है, इसका क्या प्रमाण है?

प्रथमतः तो यही कि आचार्य और शिष्य परस्पर हृदय-स्पर्श करते हुए जो मन्त्र पढ़ते हैं उसमें बृहस्पति का स्मरण किया गया है। दूसरे, बृहस्पति का अर्थ ही वाणी का पति अथवा वेद का पति होता है। बृहती नाम 'वाक्' का है; उसका पति होने से उसे बृहस्पति कहा जाता है।[१] वह वाक् लौकिक = पौरुषेय हो अथवा अपौरुषेय = दैवी हो। अपौरुषेय वाक् के लिए तो कहा गया है कि आदि-सृष्टि में जब व्यक्ति ने भिन्न-भिन्न पदार्थों की संज्ञाएँ रखनी चाहीं तो सर्वप्रथम उन ऋषियों की आत्मा में बृहस्पति ने ही प्रेरणा दी थी और उस प्रेरणा का ही परिणाम था कि ऋषियों ने उसे व्यक्त भाषा में प्रकट किया। लीजिए प्रमाणरूप में उपस्थित है वेदमन्त्र—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रे यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

ऋ० १०/७१/१

(प्रथमम्) वाक्-शक्ति के प्रथम स्फुरण होने के समय (नामधेयं) भिन्न-भिन्न पदार्थों के नामधेय को (दधानाः) धारण करनेवालों को (यत्) जो (प्रैरत) प्रेरणा मिली, वह (वाचः अग्रे) वाणियों का आरम्भ था अथवा

---

१. वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः।—श० १४/४/१/२२

वाणियों का उत्कर्ष था (यत्) जो ज्ञान (श्रेष्ठम्) अतिशय श्रेयस्कर और (अरिप्रम्) निर्भ्रान्त था (तद्) वह [ज्ञान] (एषाम्) इन आदि-ऋषियों की (गुहा) हृदय-गुहाओं में (प्रेणा) प्रेमपूर्वक (निहितम्) रखा हुआ (आविः) सुरक्षित था।

इस श्रुति-प्रमाण से विदित हो गया कि वाणी और ज्ञान के क्षेत्र का देवता बृहस्पति है, प्रजापति नहीं। फिर उपनयन-संस्कार में यज्ञोपवीत पहनाते समय जिस मन्त्र का उच्चारण किया जाता है उसमें बृहस्पति का स्मरण न होकर, प्रजापति देवता का स्मरण किया जाना ही इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि आचार्य गर्भभूत ब्रह्मचारी को अपने उदर में लेते समय प्रजापति-प्रदत्त यज्ञोपवीत का स्मरण इसलिए कराता है कि उसी के प्रश्रय में उसका प्रथम जन्म हुआ था। द्विज बनाने के लिए ही तो यह गर्भधारण हो रहा है। अतः ब्रह्मचारी को किसी सूत्र में बाँधना होगा, फिर चाहे वह कृत्रिम शुभ्र यज्ञोपवीत ही क्यों न हो। आचार्य के हाथ का शुभ्र यज्ञोपवीत भी प्रजापति के उस प्रथम यज्ञोपवीत का प्रतीकमात्र ही तो है!

ऊपर हम यह प्रमाणित कर चुके हैं कि मनुष्य के दो जन्म होते हैं और कि प्रत्येक जन्म के लिए उपनयन आवश्यक है—परस्पर समीपता आवश्यक है। उस समीपता के लिए किन्हीं सूत्रों का होना अत्यावश्यक है (जो गर्भ को माता से और आचार्य को ब्रह्मचारी से बाँधे रहें)। उसी सामीप्य-सम्बन्धित सूत्र को यज्ञोपवीत कहते हैं।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि प्रथम जन्म के लिए प्रजापति का यज्ञोपवीत प्रत्येक प्राणी ने धारण किया होता है, चाहे वह पशु हो अथवा मनुष्य। बिना इसे धारण किए जन्म ही असम्भव है। इसमें पशु और मनुष्य तुल्य हैं; अतः मनुष्य का बालक एक (अबोध) पशु ही है पश्चात् द्वितीय जन्म धारण करके ही वह द्विज बनता है।

आचार्य यज्ञोपवीत पहनाते हुए अन्त में कहता है '**प्रतिमुञ्च शुभ्रं**

यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः' हे ब्रह्मचारिन् ! अब बँधो। यह देखो, मेरे हाथ में शुभ्र यज्ञोपवीत विद्यमान है। यहाँ आचार्य द्वारा प्रयुक्त 'प्रतिमुञ्च' क्रिया प्रमाणित करती है कि यह कोई बन्धन का चिह्न ही है। उपनयनार्थ आचार्य शिष्य को इन्हीं सूत्रों से बाँधता है; तभी कहता है 'प्रतिमुञ्च'।

मुक्ति के पहले बन्धन—

कहाँ तो विद्यारम्भ कराते समय आचार्य को शिष्य को यह कहना कि 'प्रतिमुञ्च'—बँधो, और कहाँ शास्त्रकारों का विद्या का उद्देश्य बताते हुए कह कहना कि **"सा विद्या या विमुक्तये"**—वही वास्तविक विद्या है जो छुटकारे के लिए अर्थात् मुक्ति के लिए हो। इन 'बंधों और छूटों' दो विपरीत बातों में क्या संगति है, क्या सामञ्जस्य है ? प्रतिमुञ्च और विमुञ्च में क्या मेल ? **विद्यायै प्रतिमुञ्च, विद्यया विमुञ्च।**

निस्संदेह मुक्ति का अर्थ छूटना है। किन्तु छूटना तभी संभव है जब वस्तु पक गई हो, अर्थात् छूटने के लिए पकना आवश्यक है। और पकने के लिए बँधना आवश्यक है क्योंकि बँधे बिना कोई वस्तु पकती नहीं। आचार्य शिष्य को पकाने के निमित्त ही बाँधता है। फल अपने डाल पर बँधकर ही पकता है। बन्धन पकने का आधार है। ज़ो फल डाल से स्वयं छूटा है निस्संदेह वह पककर ही छूटा है और जो फल पका है वह निस्संदेह डाल से बँधकर ही पका है। निष्कर्ष यही रहा कि मुक्ति के लिए यह बन्धन परमावश्यक है। कहना चाहिए **"तद् बन्धनम् यद् विमुक्तये"**—बन्धन वही है जो मुक्ति के लिए हो। आचार्य यही कहता है कि ब्रह्मचारिन् ! पहले विद्या-बेल (यज्ञोपवीत) से बँधो, फिर पको और पककर (स्नातक होकर) मुक्त हो जाओ।

अति दीर्घकालीन मुक्ति के लिए भी पकना आवश्यक है और इस आत्म-परिपाक के लिए मनुष्यदेह-धारण आवश्यक है और

देह-धारणार्थ गर्भ-बन्धन आवश्यक है। **तद्देहबंधनं यदपवर्गाय**—वह देह-बन्धन उचित है जो अपवर्ग के लिए हो[१]।

बन्धन ही मोक्ष का कारण—

ऊपर कहा जा चुका है कि बन्धन से छूटना मुक्ति है, परन्तु यह मुक्ति भी तभी मिली जब व्यक्ति बन्धन में रहा। जहाँ यह सत्य है कि जीव प्रकृति के बन्धन से छूटकर मुक्त होता है, वहाँ उससे भी प्रबल सत्य यह है कि जीव प्राकृतिक बन्धन में रहकर ही पका, जब पका, तब मुक्ति हुई—इससे पहले नहीं।

यह सत्य है कि गर्भ का जन्म मातृकुक्षि से छूट जाने में है, परन्तु इसकी सम्भावना भी तो तभी है जब वह पक गया हो। और पकने की सम्भावना भी तभी है जब मातृकुक्षि से बँधा रहा हो।

तद्वत् ब्रह्मचारी की मुक्ति, विद्या-माता के बन्धन से छूट जाने में है। परन्तु इसकी सम्भावना भी तो तभी है, जब वह पक गया हो और पकने की सम्भावना तभी है जब पहले विद्या-माता से जुड़ा रहा हो।

बन्धन के सूत्र—

अब सिद्ध हो गया कि मुक्ति के लिए पकना आवश्यक है और पकने के लिए बँधना आवश्यक है, तो इस बन्धन के लिए किन्हीं ऐसे दृढ़ सूत्रों का होना आवश्यक है जो कि पकने से पहले टूटें नहीं, छूटें नहीं।

'प्रकृति'-सूत्र से बढ़कर कोई ऐसा दृढ़ सूत्र नहीं जो जीव को बाँध सके। तीन अनादि सत्ताओं में, परमात्मा बाँधता है, जीव बँधता है, प्रकृति-सूत्र साधक है। प्रत्येक जीव प्रकृति के त्रिविध बन्धनों में बँधा हुआ है। उन्हीं त्रिविध बन्धनों को सात्त्विक, राजसिक और तामसिक

---

१. भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।—यो० २/१८

बन्धन कहते हैं। प्रकृति अपने सत्त्व, रजस्, तमस् त्रिविध-सूत्र में प्रत्येक जीव को बाँधे हुए है।

परमात्मा जब भी किसी जीव को देह-बन्धन में बाँधना चाहते हैं तो प्रकृति के उन्हीं सहज त्रिविध सूत्रों को (जिनमें जीवात्मा आबद्ध है) अपने नियामक हाथों में सावधानी से लेकर पुरुष से जोड़ देते हैं। किस जीव को किस पुरुष के साथ जोड़ना है यह व्यवस्था परमात्मा की है। और जिन त्रिविध बन्धनों में जीव को जोड़ना है वे जीवात्मा के स्वनिर्मित हैं और बन्धन के त्रिविध सूत्र प्रकृति के हैं। यह तो सर्वथा ऐसा ही है कि कोई माता प्रतिदिन कपास कातती है, पूनी हाथ में है, सूत कत रहा है, और तकवे पर सिमटता जा रहा है। अब माता ने काम को समेटते हुए उसे जहाँ का तहाँ छोड़ दिया। पूनी अध-कती रह गई और जितना सूत्र कता वह तकवे पर सिमट गया। अब अगला दिन आया कि माता चरखा लेकर बैठी तो जहाँ पर काम समाप्त किया था वहीं से आरम्भ कर दिया। रुका हुआ सूत्र फिर कतने लगा। उसने पूनी को सावधानी से उठाया कि कहीं उलझ न जाय, टूट न जाय; फिर सूत्र कतने लगा। इस प्रकार क्रम चलता रहा। एक दिन माता ने बहू से कहा कि, बेटी, आज तू कात। बस, कुशल वधू ने पूनी को बड़ी सावधानी से हाथ में थाम लिया और कातना आरम्भ कर दिया। कपास वही है, पूनी वही है, केवल कातनेवाला और है।

सूत्र वही परन्तु सूत्रधार बदल गया

बस, सूत्र तो प्रकृति का ही है परन्तु सूत्रधार बदलते रहते हैं। जीवात्मा को प्रकृति के त्रिविध सूत्र में बाँधने के लिए कभी पिता सूत्रधार बनता है तो कभी माता और कभी आचार्य। कपास वही है, सूत्र वही है, परन्तु सूत्रधार बदल गये। हर जीव अपने ही प्रकृतिसूत्र में बँधता है, परन्तु बाँधनेवाले सूत्रधार भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

बिना प्रकृति-सूत्र में बँधे जगत् में आना असम्भव है, और बिना जगत् में आए भोग और अपवर्ग की सिद्धि असम्भव है। अतः[१] भोग और अपवर्ग के साधनभूत दृश्य जगत् का और दृश्य जगत् से बाँधने-वाले माध्यम का ऋण हर व्यक्ति पर है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति पिता, माता और आचार्य के ऋणत्रय से आबद्ध है।

परमात्मा जब किसी जीव को जागतिक बन्धनों में बाँधना चाहता है तो पुरुष (पिता) को माध्यम बनाता है; आनेवाले जीव के त्रिविध सूत्रों को पिता के त्रिविध केन्द्रों से जोड़ देता है। वे तीन केन्द्र मस्तिष्क, हृदय और नाभि हैं। इस प्रकार पुरुष में गर्भित जीव अपने त्रिविध बन्धन-सूत्रों को पिता के मस्तिष्क, हृदय, नाभि-केन्द्रों से जोड़ लेता है, मानो पिता अपने-आपको ही अपने में धारित और पोषित करता है।[२] समय आने पर पुरुष इस गर्भ का पत्नी में आधान कर देता है। एक प्रकार से जीव का यह प्रथम जन्म है। एक प्रकार से इसलिये कि जीव को देह की आकृति में नहीं देखा जा सकता। अभी तो अज है। पत्नी में गर्भित जीव अपने त्रिविध सूत्रों को माता के मस्तिष्क, हृदय और नाभि-केन्द्रों से जोड़ देता है। इस प्रकार गर्भगत जीव, माता के साथ आत्मभाव को प्राप्त होता है, फिर धीरे-धीरे माता के उदर में विकास को पाता है। इसका विकास उसी त्रिविध सूत्र से होता है जो जीव को सहज प्राप्त है। माता के हृदय, मस्तिष्क और नाभि-केन्द्रों से जुड़े हुए त्रिसूत्र से रस ग्रहण करने लगता है। (इससे जीव के मस्तिष्क, हृदय और नाभि का निर्माण होता है।) समय पाकर इसका जन्म होता है।

---

१. जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवाँ जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः। एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारि वास। —तै० संहिता ६/३/१०/५

२. पुरुषे ह वा अयमवादितो गर्भो भवति। यद् एतद्रेतः तद् एतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः तेजः संभूतं आत्मनि एव आत्मानं बिभर्ति। तद् यदा स्त्रियां सिञ्चति अथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥१॥ तत् स्त्रियां आत्मभूय गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा तस्मादेनां न हिनस्ति साऽस्यैतमात्मा तमत्र गतं भावयति ॥२। —ऐतरे० उ० २/१/१-२

शारिरिक दृष्टि से जीव का यह प्रथम जन्म है जिसके लिए आपस्तम्ब-सूत्रकार कहते हैं—**'मातापितरौ तु शरीरमेव जनयतः।'** तत्पश्चात् माता-पिता इस बालक-गर्भ को आचार्य में गर्भित करते हैं। उस समय आचार्य गृभी हो जाता है। आचार्य सविता है और उसका उदर सावित्री है, अतः सावित्री-उदर में बालक-गर्भ को धारण करता है। सावित्री उस बालक-गर्भ को आत्मसात् कर लेती है। बालक-गर्भ के त्रिविधसूत्र सावित्री के तीन केन्द्रों से युक्त हो जाते हैं। सावित्री के वे तीन केन्द्र क्रमशः 'वरेण्य', 'भर्ग' और 'धी' हैं। गर्भ के नाभिकेन्द्र का सावित्री के भर्गकेन्द्र से सम्बन्ध हो जाता है, जिससे ब्रह्मचारी के नाभिकेन्द्र का समुचित विकास तथा वीर्य-शक्ति का परिपाक होता है। गर्भ के हृदय-केन्द्र का सावित्री के वरेण्य-केन्द्र से सम्बन्ध होता है, जिससे ब्रह्मचारी के हृदय-केन्द्र का विकास, तथा व्रत-निर्णय का परिपाक हो पाता है। गर्भ के मस्तिष्क-केन्द्र का सावित्री के धी-केन्द्र से सम्बन्ध होता है, जिससे ब्रह्मचारी की मेधा, प्रज्ञा, और स्मृति का विकास होता है।

ब्रह्मचारी-गर्भ के **नाभि**-केन्द्र को सावित्री माता के **भर्ग**-केन्द्र से जोड़नेवाले सूत्र का नाम **तमस्**-सूत्र है। ब्रह्मचारी के **हृदय**-केन्द्र को सावित्री माता के **वरेण्य**-केन्द्र से जोड़नेवाले सूत्र का नाम **रजस्**-सूत्र है। ब्रह्मचारी के **मस्तिष्क**-केन्द्र को सावित्री माता के **धी**-केन्द्र से जोड़नेवाले सूत्र का नाम **सत्त्व**-सूत्र है।

सूत्र वही प्राकृतिक हैं, सूत्रधार आचार्य है, अतः आचार्य ने अपने शुभ्र यज्ञोपवीत के भी त्रिसूत्र ही रखे हैं जो कि इन सूत्रों का ही उपलक्षण मात्र हैं। हम लिख आए हैं कि सूत्र वही है, सूत्रधार बदलता है, परन्तु कुशल सूत्रधार का कौशल इसमें है कि प्रथम सूत्रधार ने सूत्र को जहाँ तक काता, जहाँ छोड़ा, वहीं से पकड़े और वहाँ से आगे कातना आरम्भ कर दे। पिता सूत्रधार ने जहाँ तक काता, माता सूत्रधार

भी वैसा ही काते, फिर आचार्य उसी सहज सूत्र को सावधानी से उठाकर उत्तम काते, और आगे काते, जिससे तन्तु अविच्छिन्न बना रहे और ब्रह्मचारी के स्नातक होने पर उन्हीं सूत्रों को स्नातक सूत्रधार के हाथ में सौंपते हुए कहे **"प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः[१]।"** फिर नवगृहस्थ सूत्रधार उसे अपने में गर्भित कर ले। यह चक्र चलता रहे, जीव का बन्ध-मोक्ष, आना-जाना बना रहे और बना रहे प्रकृति-सूत्र जिसका कि प्रतीक यह यज्ञोपवीत है।

प्रजापति द्वारा प्रदत्त सत्त्व, रजस्, तमोरूप गुणत्रय से निर्मित वृत्त (यज्ञोपवीत) से घिरा हुआ ब्रह्मचारी जब आचार्य का गर्भ बना, तो आचार्य ने भी इन्हीं गुणत्रय-रूप प्रकृति-सूत्र को आधार बनाकर एक वृत्त (वलय) तैयार किया जिसे ब्रह्म से ग्रथित कर दिया। उसीके प्रतीकभूत वलय को यज्ञोपवीत, और ग्रन्थि को ब्रह्मग्रन्थि कहते हैं। सूत्र वही है परन्तु नाप ब्रह्मचारी के चप्पे का है।

प्रत्येक ब्रह्मचारी अपनी सहज प्रकृति लेकर आता है। किसी की प्रकृति सत्त्व-प्रधान होती है, किसी की रजः-प्रधान तो किसी की तमः-प्रधान। आचार्य ब्रह्मचारी के इस प्रकृति-सूत्र को नहीं छोड़ता; उसे सावधी से पकड़कर ब्रह्म से नत्थी कर देता है—ब्रह्म-ग्रन्थि लगा देता है, तभी सूत्र का नाम यज्ञोपवीत हो जाता है। बद्ध कुमार का नाम ब्रह्मचारी हो जाता है, ब्रह्मचारीष्णंश्चरति का मूर्त रूप। ब्रह्म से ग्रथित होते ही प्रकृति संस्कृति का रूप धारण कर लेती है। बस, आचार्य ब्रह्म के आधार पर ब्रह्मचारी की संस्कृति बना देता है।

हम लिख चुके हैं कि प्रकृति के त्रिसूत्र वही हैं, उनके केन्द्र वही हैं, परन्तु सूत्रधार भिन्न-भिन्न हैं। जब आचार्य सूत्रधार बना तो उसने सर्वप्रथम ब्रह्मचारी को त्रिधा-बन्धन में बाँधना चाहा। अब आचार्य ने अपने पाँच रूपों में से प्रथम दो रूप प्रकट किए—

---

१. तैत्ति० उ० १/११/१

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः ॥

अथर्व० ११/५/१४

आचार्य के प्रथम और द्वितीय रूप मृत्यु और वरुण हैं। अतः आचार्य का नाम मृत्यु भी है और वरुण भी। आचार्य के ये दोनों नाम इतने स्वाभाविक हैं कि शिक्षाशास्त्री भी समर्थन किए बिना न रहेंगे। ब्रह्मचारी जैसे ही उपनयन के निमित्त आचार्य के पास आता है, आचार्य अपने मृत्युरूप को प्रकट करता है। क्योंकि, बिना मृत्यु प्राप्त किए दूसरा जन्म असंभव है। मृत्यु के बिना जन्म कैसा? इसलिए ब्रह्मचारी सर्वप्रथम मृत्यु-अवस्था को, आचार्य के मृत्युरूप को प्राप्त करता है। आचार्य का अनुशासन ही मृत्युरूप है।

आचार्य ने ब्रह्मचारी की हर चेष्टा पर, गतिविधि पर रोक लगा दी—देखने-सुनने पर, हँसने-बोलने पर, सूँघने-छूने पर, उठने-बैठने पर, चलने-फिरने पर। यही आचार्य द्वारा उपनयन है। विद्यार्थी छटपटाया और सोचने लगा कि किस मृत्यु के हवाले कर दिया गया हूँ? ब्रह्मचारी को क्या पता कि बिना मृत्यु के दूसरा जन्म असम्भव है! वह अनुशासन-सूत्र तुड़ाकर भागना ही चाहता था कि आचार्य ने अपना वरुण रूप प्रकट किया और उसे अपने मस्तिष्क-हृदय-नाभि से सर्वात्मना स्नेह देकर उसके मस्तिष्क-हृदय-नाभि को अपनाया; अतः अनुशासन-पाश में, यज्ञसूत्र में त्रिधा बाँध लिया।

आचार्य ने ब्रह्मचारी के ही प्रकृति-सूत्र से उसे उत्तम, मध्यम, अधम, तीन पाशों में बाँधा। मस्तिष्क को उत्तम पाश, हृदय को मध्यम पाश और उदर अथवा नाभि को अधम पाश समझना चाहिए। इनकी उत्तम, मध्यम और अधम संज्ञाएँ इनके पाशसूत्रों और केन्द्रों के कारण हैं। मस्तिष्क को सत्त्वसूत्र से बाँधने के कारण उत्तम पाश कहेंगे। हृदय को रजः-सूत्र से बाँधने के कारण मध्यम पाश कहेंगे और उदर को तमः-सूत्र से बाँधने के कारण अधम पाश कहेंगे। आचार्य द्वारा दिये

गये यज्ञोपवीत के सूत्र ही वे त्रिविध सूत्र हैं जिनसे वह ब्रह्मचारी को त्रिधा पाशों में बाँधता है। त्रिधाबद्ध ब्रह्मचारी की करुण पुकार भी सुनने योग्य है। वह श्रुति के शब्दों में पुकार रहा है—

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥

यजुः० १२/१२

हे पापनिवारक आचार्य ! आप हमारे सत्त्व के **उत्तम** बन्धन को ऊपर की ओर, और रजस् के **मध्यम** बन्धन को विशेषतया तथा तमस् के **अधम** बन्धन को नीचे की ओर खोल दो जिससे कि, हे आदित्य ! हम तेरे नियमों में रहते हुए पापरहित होकर बन्धनराहित्य = स्वतन्त्रता = मुक्ति के अधिकारी हो जाएँ।

त्रिधाबद्ध ब्रह्मचारी की इस करुण पुकार को सुनकर आचार्य ने अपना तृतीय रूप सोम प्रकट किया और कहा—हे सोम्य ! ये पाश तुम्हारे परिपाक के लिए हैं, इन त्रिविध सूत्रों से ही तुम्हें वह रस पहुँचेगा जो तुम्हारे मस्तिष्क, हृदय और नाभि का परिपाक करेगा। बस, आचार्य का सोमरूप प्रकट होते ही ब्रह्मचारी उन रसों का पान करने लगा। इसीसे उसका परिपाक होना सम्भव था।

सर्वप्रथम आचार्य त्रिविध सूत्र से त्रिवृत्त निर्माण करता है—सत्त्व-सूत्र से मस्तिष्क को परिधि मानकर एक वृत्त बनाता है, रजः-सूत्र से हृदय को परिधि मानकर द्वितीय वृत्त बनाता है, तमः-सूत्र से उदर को परिधि मानकर तृतीय वृत्त बनाता है, इस **त्रिवृत्** से वह ब्रह्मचारी को घेर लेता है और उस त्रिवृत् को ब्रह्म से ग्रथित कर देता है। इस त्रिवृत् में रहकर ही ब्रह्मचारी आर्य बनता है।

वृत्तान्त—

जब हम किसी व्यक्ति से उसका समाचार जानना चाहते हैं तो

बहुधा पूछते हैं कि कहिए, आपका क्या वृत्तान्त है? वास्तव में देखा जाय तो यह प्रश्न सर्वथा अयुक्त है। जब वृत्त का अन्त हो तभी तो पूछना उपयुक्त है, न कि वृत्त के आदि-अन्त का कुछ पता नहीं, और आप पूछ रहे हैं वृत्तान्त क्या है? आर्यमनीषियों ने जब वृत्त के आदि-अन्त का पता चला लिया, तभी वृत्तान्त शब्द का निर्माण किया।

ब्रह्मग्रन्थि—

शुभ्र सूत्र से निर्मित यज्ञोपवीत ही ऐसा **त्रिवृत्** है जिसके हर वृत्त के आदि-अन्त का पता ज्ञात है। उसमें ब्रह्मग्रन्थि लगाकर ही उसकी ओर निर्देश किया गया है। यह वृत्त का वह बिन्दु है जिसपर अंगुलि टिकाकर कहा जा सकता है कि यह वृत्त का आदि भी है और अन्त भी। ब्रह्मचारी का जीवन-वृत्तान्त है ब्रह्म; वही आदि भी है, और वही अन्त भी—**'ब्रह्मइष्णन् चरति इति ब्रह्मचारी"**[१] शुद्ध ब्रह्म की खोज में निकले हुए ब्रह्मचारी का वृत्तान्त है, ब्रह्म। संन्यासी का वृत्तान्त पूछते हो? उसका तो लोक ही ब्रह्म है—उसके वृत्त का आदि भी ब्रह्म और अन्त भी ब्रह्म।

ब्रह्मचारी से मस्तिष्क-वृत्त का अन्त पूछो तो कहे—**ब्रह्म**। उससे **हृदय**-वृत्त का अन्त पूछो तो कहे—**ब्रह्म**। यदि **नाभि**-वृत्त का अन्त पूछो तो भी कहे—**ब्रह्म**। उसके हर वृत्त का आदि-अन्त ब्रह्म ही होना चाहिए। वृत्त का आदि-अन्त ब्रह्म है, इसकी सूचना ब्रह्मग्रन्थि से मिल रही है। यज्ञोपवीत के त्रिवृत् का प्रत्येक सूत्र ब्रह्म की ओर इङ्गित कर रहा है, उसका प्रत्येक सिरा उसी को सूचित कर रहा है; सूचना देने से ही इसका नाम सूत्र है। उसका तो ध्येय-मंत्र यह होना चाहिए **'ब्रह्मापरं युज्यताम् ब्रह्मपूर्वं'** (अथर्व० १४/१/६४)

---

१. **ब्रह्मचारीष्णौंश्चरति**। (अथर्व० ११/५/१)

ब्रह्म—

यज्ञसूत्र जिस ब्रह्म की ओर निर्देश कर रहा है वह ब्रह्म क्या है, इसकी भी संक्षिप्त व्याख्या होनी चाहिए। विष्णु-पुराण (३/३/२२) में ब्रह्म का निर्वचन करते हुए कहा है—**बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च तद् ब्रह्मेत्यभिधीयते**—बृहत्वात् = महान् होने से, बृंहणत्वाच्च = बृंहणत्व गुण होने के कारण उसको ब्रह्म कहते हैं। स्वयं महान् होने और किसी को महान् बनाने से वह ब्रह्म है। कक्षा-भेद से ब्रह्म भी अनेक होंगे। कसौटी यही है कि वह अपनी कक्षा में महान् हो और बृंहणत्व-सामर्थ्य हो। उपनिषद्[1] में लिखा है—अन्न को ब्रह्मत्व इसीलिए प्राप्त है कि वह अपनी कक्षा में महान् है और देह को बृंहणत्व प्रदान करता है। देह[2] का सर्वोपरि आधार होने से अन्न भी ब्रह्म है, जिसका केन्द्र नाभि है; अतः आचार्य यज्ञोपवीत के त्रिसूत्रों में से एक सूत्र से नाभि को बाँधता है, अतः ब्रह्मचारी के नाभिकेन्द्र से देह-परिधि तक फैले तमोवृत्त का अन्त **अन्न-ब्रह्म** होगा। फिर उस सूत्र के भी त्रिसूत्र होंगे—**'आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति'** ये तीनों ही शरीर के आधार-स्तम्भ हैं। अब ब्रह्मचारी से पूछकर देखिए कि तुम्हारे नाभिवृत्त का अन्त क्या है? वह कहेगा **'आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यम्**—खाना, सोना और वीर्य-रक्षा।' यदि पुनः पूछा जाएगा कि आहार, स्वप्न, ब्रह्मचर्य वृत्तत्रय का अन्त क्या है? तो वह कहेगा—मेरे आहार-वृत्त का अन्त ब्रह्म है, मेरे स्वप्न-वृत्त का अन्त ब्रह्म है और मेरे ब्रह्मचर्य-वृत्त का अन्त भी ब्रह्म है। मेरी ब्रह्मचारी संज्ञा ही यह घोषणा है कि मेरा वृत्तान्त ब्रह्म है।

उपनयन-संस्कार में आचार्य वस्त्राच्छादित हाथ से ब्रह्मचारी के नाभि-प्रदेश को स्पर्श करता है, उसका उद्देश्य यही है कि मेरा कर्त्तव्य

---

१. चरक सूत्र

होगा कि ब्रह्मचारिन्! नाभि-केन्द्र का परिशोधन कर तुझे आहार-विज्ञान, स्वप्न-विज्ञान और वीर्य-विज्ञान से परिचित कराऊँ, जिससे तू उत्तम आहार लेनेवाला, उत्तम निद्रा लेनेवाला व उत्तमतया वीर्य-रक्षा करनेवाला बन सके। इस प्रकार तमः-सूत्र से नाभि-परिधि तक फैले वृत्त का आदि-अन्त अन्न-ब्रह्म, और उस सूत्र के ही आहार-स्वप्न-ब्रह्मचर्य यह त्रिसूत्र, फिर इनके सत्त्व-रजस्-तमस् भेद से एक सूत्र में नौ सूत्रों का रहस्य समझ लेना चाहिए।

वृत्त के तीन तत्त्व—

वृत्तनिर्माण में केन्द्र, परिधि और व्यास तीनों तत्त्वों की आवश्यकता होती है। इन तीनों में केन्द्र वह आवश्यक तत्त्व है जिस पर व्यास और परिधि का अस्तित्व अवलम्बित है, यतः उसी को आधार बनाकर इच्छित अर्धव्यास के नाप से परिधि-बिन्दु निर्धारित किया जाता है, तब कहीं वृत्त बन पाता है। उपनयन की कामना से आए हुए ब्रह्मचारी को आचार्य, वृत्त में रखना चाहता है। उसका केन्द्रबिन्दु ब्रह्म, परमरस, परमात्मा, वेद, संकल्प और यज्ञ को बनाता है। परिधि-बिन्दु जहाँ एक ओर आचार्य अपनी नाभि को बनाता है, वहाँ दूसरी ओर ब्रह्मचारी की नाभि को बनाता है। इससे एक ऐसा वृत्त निर्माण होता है जिसका केन्द्र-बिन्दु ब्रह्म होता है और परिधि-रेखा आचार्य तथा शिष्य के नाभि-बिन्दुओं को स्पर्श करती है। उपनयनार्थ लिये गए यज्ञोपवीत-चिह्न का वलय ऐसे ही वृत्त की सूचना देता है, जो ब्रह्म से ग्रथित है और दोनों के नाभिकेन्द्रों को स्पर्श करता है। इसी प्रकार यज्ञोपवीत-सूत्र का द्वितीय वलय भी प्राण-ब्रह्म को केन्द्र मानकर आचार्य और शिष्य के हृदय-बिन्दुओं को स्पर्श करता हुआ वृत्त बनाता है। ठीक इसी प्रकार यज्ञोपवीत-सूत्र का तृतीय वलय भी मनोब्रह्म को केन्द्र मानकर आचार्य और शिष्य के मूर्धा-बिन्दुओं का स्पर्श करता

हुआ वृत्त बनाता है। इस प्रकार ब्रह्मकेन्द्र से ग्रथित तमस्, रजस् और सत्त्व-सूत्र आचार्य और शिष्य के नाभि, हृदय और मूर्धा-केन्द्रों को स्पर्श करते हुए तीन वृत्त बनाते हैं जिनमें आचार्य और शिष्य परस्पर आबद्ध हैं।

नाभि, हृदय, मूर्धा—

नाभि-केन्द्र—प्रत्येक व्यक्ति जहाँ स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहत्रय से आबद्ध है, वहाँ नाभि, हृदय व मूर्धा केन्द्रत्रय से भी त्रिधा आबद्ध है—**त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति।** (ऋ० ४/५८/३) ये तीनों जीवात्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों को बाँधनेवाले केन्द्र हैं। ये तीनों शब्द बन्धनार्थक धातुओं से बने हैं जिससे पता चलता है कि ये वे केन्द्र हैं जहाँ भिन्न-भिन्न शक्तियाँ आकर आबद्ध होती हैं। जहाँ नाभि शब्द 'णह बन्धने' धातु से बना है, वहाँ मूर्धा शब्द भी 'मूर्वि बन्धने' धातु से निष्पन्न हुआ है। नाभि शब्द तो ऐसे केन्द्र के लिए रूढ़-सा हो गया है, जहाँ पहुँचकर सभी शक्तियाँ केन्द्रित हो जाती हैं। पहिये के बीच की पुट्ठी भी, जिसमें सब ओर से अरे आकर जुड़ते हैं, नाभि कहलाती है।[१] नाभि शरीर की समस्त शक्तियों का केन्द्र है। यहीं भोज्य, चूष्य, लेह्य और पेय पदार्थ सिमटकर इकट्ठे होते हैं और यहीं रच-पचकर सप्तम धातु (वीर्य) का रूप धारण कर लेते हैं। उस वीर्यशक्ति को भी बाँधकर रखनेवाला केन्द्र 'नाभि' है। इसीलिए सन्ध्या में आर्य नाभि-प्रदेश को स्पर्श करते हुए कहता है—'जनः पुनातु नाभ्याम्', जिससे ज्ञात होता है कि नाभि जननशक्ति का केन्द्र है। आचार्य वीर्यरक्षा द्वारा शिष्य को ब्रह्मचर्य-शक्ति से आप्यायित करता है।

आचार्य उपनयन-संस्कार में वस्त्राच्छादित दक्षिण हस्त से बालक

---

१. **सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः**।—अथर्व० ३/३०/६)

के नाभिप्रदेश को स्पर्श करते हुए जो मन्त्र पढ़ता है उसमें नाभि को प्राणों की ग्रन्थि कहा है, जहाँ सभी प्राण आकर ग्रथित होते हैं। **प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्रसोऽन्तक इदं ते परिददामि।** (मं० ब्रा० १/६/२१) इसलिए प्रायः नाभि के च्युत होते ही सभी शारीरिक क्रियाएँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। इसी को नाभि-वृत्त कहते हैं जिसकी सूचना यज्ञोपवीत के तम-सूत्र से निर्मित 'प्रथम वलय' देता है। मानो यह वृत्त की परिधि का एक बिन्दु है।

मूर्धा-केन्द्र—यदि नाभि शरीर की भौतिक शक्तियों का केन्द्र है तो मूर्धा स्वभावतः ही मानसिक शक्तियों का केन्द्र सिद्ध हुआ (क्योंकि वह मन का केन्द्र है)। जिस प्रकार रथ की नाभि में अरे प्रतिष्ठित हैं उसी प्रकार मन-नाभि में ऋग्, यजुः, साम प्रतिष्ठित हैं (यजुर्वेद ३४/५)। मूर्धा ज्ञान का केन्द्र है, इसलिए आचार्य सत्त्व-सूत्र से बने आध्यात्मिक वृत्त के केन्द्रभूत मूर्धा को ऋग्, यजुः, साम के ज्ञान से आप्यायित करता है।

मूर्धा जहाँ ऋग्, यजुः, साम को बाँधकर रखनेवाला केन्द्र है, वहाँ इन्द्रियों द्वारा दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, घ्रातव्य, रस्य अर्थों को संगृहीत रखनेवाला केन्द्र भी है। इसी को मूर्धा-वृत्त, आध्यात्मिक-वृत्त या ज्ञान-वृत्त कहेंगे (जिसकी सूचना यज्ञोपवीत का सत्त्वसूत्र से निर्मित तृतीय वलय देता है)। यह वृत्त की परिधि का द्वितीय बिन्दु है।

हृदय-केन्द्र—नाभि और मूर्धा क्रमशः आधिभौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों के केन्द्र हैं; तद्वत् हृदय मध्य-केन्द्र है, जो नाभि और मूर्धा को बाँधकर रखनेवाला है। हृदय शब्द के 'हृ, द, य' तीन अक्षर आदान, दान और नियमन की सूचना देते हैं। हृदय जहाँ नाभिकेन्द्र से रक्त का आहरण करता है, जहाँ आए रक्त का समस्त शरीर को दान करता है, वहाँ मूर्धकेन्द्र से आए ज्ञान को स्नेह, वात्सल्य, प्रेमरूप में परिवर्तित करके लोक में उँडेल देता है। इन दोनों केन्द्रों से

आहरण और दान पर नियमन रखने के कारण इस मध्मय केन्द्र को हृ-द-यम्[१] कहते हैं। अथवा, नाभिकेन्द्र में बने रक्त को 'हृदि-अयम्' हृदय में यह है ऐसा, और मूर्धाकिन्द्र में रहनेवाले व्रत को भी 'हृदि-अयम्' हृदय में यह है,—ऐसा जिसके लिए कहा जाता है—'हृदि-अयम्' हृदि अयम्' उसे हृदय कहते हैं। इसीलिए आचार्य ब्रह्मचारी का हृदय स्पर्श करते हुए कहता है "मम व्रते ते हृदयं दधामि" कि मेरे अपने व्रत में तेरे हृदय को धारण करता हूँ। तब ब्रह्मचारी भी आचार्य को कहता है—'हृदि-अयम्'—आपका व्रत मेरे हृदय में है—हृदि अयम्, हृदि-अयम् (व्रतः) हृदयम्। हृदय वह केन्द्र है जिसमें ब्रह्म, आत्मा, मूर्धा, मन, रेतस्, श्रोत्र, वाक् सभी आबद्ध हैं, आश्रित हैं[२]। इस प्रकार इसे हृदयवृत्त आधिदैविकवृत्त या उपासनावृत्त कहेंगे, जिसकी सूचना यज्ञोपवीत के रजः-सूत्र से निर्मित द्वितीय वलय से मिलती है। हृदय वह केन्द्र है जिससे आचार्य एक ओर नाभिबिन्दु को और दूसरी ओर मूर्धाबिन्दु को स्पर्श कराता हुआ एक वृत्त बनाता है जिसके तीन-तीन उपवृत्त हैं। इन्हीं वृत्तों से वह शिष्य को घेरता है—त्रि-वृत्।

मनुष्यों में लिंग-भेद से एक स्त्री है तो दूसरा पुरुष; एक कन्या, दूसरा कुमार। यदि दोनों को द्विज बनाना है तो दोनों को यज्ञोपवीत पहनाना होगा। जिस प्रकार कुमार को यज्ञोपवीत पहनना आवश्यक है तद्वत् कन्या को भी यज्ञोपवीत पहनना आवश्यक है। यदि प्रजापति परमात्मा ने मातृकुक्षि में बालक अथवा बालिका को शरीर-निर्माण के समय पक्षपात नहीं किया और दोनों को तुल्य यज्ञोपवीत पहनाया है, तो

---

१. तदेतत्''''त्र्यक्षरं 'हृ' इत्येकमक्षरम्—'द' इत्येकमक्षरम् 'यम्' इत्येकमक्षरम् (शत० १४-८-४-१)

२. हृदि अयम् हृदयम्। (ब्र० उ० ५/३/१ से मिलाइए)
मूर्धा हृदये (श्रितः)। (तै० ३/१०/८), मनो हृदये श्रितम्, रेतो हृदये श्रितम्, श्रोत्रं हृदये श्रितम्, वाग् हृदये श्रिता। (तै० ब्रा० ३/१०/८/७, ६,४)

समझ में नहीं आता कि बृहस्पति देवता पक्षपात क्यों करे। कन्याओं को यज्ञोपवीत पहनाने के पक्ष में हमारी यह एक ऐसी अकाट्य युक्ति है, जिसका प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार प्रथम जन्म से पूर्व प्रजापति ने दोनों को तुल्य यज्ञोपवीत पहनाया, वह चाहे बालक था अथवा बालिका थी, ठीक इसी प्रकार द्वितीय जन्म से पूर्व भी दोनों को तुल्य ही शुभ्र यज्ञोपवीत पहनाना चाहिए, चाहे वह बालक हो अथवा बालिका; इससे वंचित किसी को नहीं किया जा सकता। यदि कुमारी को विद्यातः जन्म प्राप्त कर द्विज बनना अनिवार्य है, तो विद्यातः जन्म के विधायक विद्या-सूत्र का पहनना भी अनिवार्य है। आपस्तम्ब ऋषि ने लिखा है कि—**स हि विद्यातः तं जनयति तदस्य श्रेष्ठं जन्म**—निश्चय ही आचार्य अन्तेवासी को जो विद्या से जन्म देता है वह अन्तेवासी का दिव्य जन्म होता है। यह बात तो उभयवादी सम्मत है कि कुमार की भाँति ही कुमारी को भी विद्या पढ़ना अनिवार्य है। विद्याध्ययन की अनिवार्यता ही कुमारी को विद्यासूत्र का अधिकार प्रदान करती है।

कन्याओं को ब्रह्मसूत्र का अधिकार—

यज्ञोपवीत की एक संज्ञा ब्रह्मसूत्र भी है। यह संज्ञा ही इस बात की परिचायिका है कि—इसके धारणकर्त्ता को ब्रह्म का, वेद का, वेदाध्ययन का, परमात्म-चिन्तन का अधिकार है। अब विचारणीय है कि कन्याओं को ब्रह्माधिकार है कि नहीं जिससे उन्हें ब्रह्मसूत्र का अधिकार प्राप्त हो? इसपर हमारा यही निवेदन है कि यदि स्त्रियों को पुरुषों की भाँति ही ब्रह्मचर्य का, ब्रह्म की चर्या का अधिकार है, तो ब्रह्म-सूत्र का अधिकार तो स्वतःसिद्ध है, उन्हें इस अधिकार से कौन वंचित कर सकता है? भगवती श्रुति ने कन्याओं के लिए ब्रह्मचर्य-पालन उतना ही अनिवार्य किया है जितना कि कुमारों के लिए।

अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त में कन्याओं के लिए स्पष्ट आदेश है कि—ब्रह्मचर्य का पालन करके ही कन्या युवापति का लाभ कर सकती है—**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**[१]। वेद का यह आदेश ही कन्याओं को ब्रह्म-सूत्र का अधिकारी बनाता है।

ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ—

ब्रह्मचारी वह है जो अहर्निश ब्रह्म की चर्या में संलग्न है। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त के प्रथम मन्त्र में ही ब्रह्मचारी की परिभाषा कर दी गई है कि जो ब्रह्म को चाहता हुआ उसकी प्राप्ति के लिए द्यावा-पृथिवी में विचरणशील है, वह ब्रह्मचारी है—ब्रह्म इष्णन् चरति इति ब्रह्मचारी मन्त्र इस प्रकार है—**ब्रह्मचारी इष्णान्श्चरति रोदसी उभे**।[२] इस मन्त्र पर सायण का भाष्य भी द्रष्टव्य है—**वेदात्मके अध्येतव्ये चरितुं शीलम् यस्य स ब्रह्मचारी**—ब्रह्म अर्थात् वेदात्मक अध्ययन में गति करने का जिसे स्वभाव है वह ब्रह्मचारी है। अतः स्पष्ट हो गया कि ब्रह्म का अर्थ वेद है, उसकी चर्या है ब्रह्मचर्या। भगवान् वेद व्यास ने 'ब्रह्म' पद के दो अर्थ किए हैं, पहला **शब्दब्रह्म** और दूसरा **परब्रह्म**। शब्द-ब्रह्म का अर्थ है **वेद** और पर-ब्रह्म का अर्थ है, परात्पर सत्ता—**ईश्वर**। परिणामतः ब्रह्मचारी वह है जो वेदाध्ययन और ईशचिन्तन में निरत रहता हो। ब्रह्मचारी के लिए सर्वप्रथम शब्दब्रह्म में निष्णात होना आवश्यक है, फिर परब्रह्म के चिन्तन में संलग्न रहना। शब्दब्रह्म में निष्णात हुए बिना वह परब्रह्म को नहीं पा सकता। भगवान् व्यास का यह वचन स्मरणीय है—**द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः**

---

१. अथर्व० ११/५/१८;
२. अथर्व० ११/५/१

परं ब्रह्माधिगच्छति[१]। अब स्पष्ट हो गया कि ब्रह्मचारी किस ब्रह्म की चाहना से विचरणशील है—प्रथम वेद, दूसरे ईश्वर। यदि कन्या को ब्रह्मचारी रहना है तो उसे ब्रह्म की चर्या करनी होगी। चर्या-मात्र ही नहीं करनी होगी, अपितु उसमें निष्णात होना होगा। वेदब्रह्म में निष्णात हुए बिना परब्रह्म की प्राप्ति असंभव है। परिणामतः कन्याओं को ब्रह्मचारी रहना उन्हें वेदाधिकार और ईश्वराधिकार प्रदान करता है और वेदाधिकार व ईश्वराधिकार उसके विधायक चिह्न ब्रह्मसूत्र का अधिकार भी प्रदान करता है; अतः कन्याओं को यज्ञोपवीताधिकार स्वतःसिद्ध है।

भगवान् मनु का मन्तव्य—

भगवान् मनु का भी आदेश है कि '**तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्** (२/१७०) अर्थात् यज्ञोपवीत से चिह्नित होना इस बात का प्रमाण है कि अब इसका ब्रह्म अर्थात् वेद से जन्म होता है। आचार्य सुमन्तु भी इसी की पुष्टि में कहते हैं कि—'**नाभिव्याहरेत् ब्रह्म यावन्मौञ्जी निबध्यते**।'—जब तक यज्ञोपवीत की मौञ्जी न बँधे तब तक वेद का उच्चारण न करे। अतः स्पष्ट है कि यदि कन्याएँ वेदोच्चारण करती हैं तो ब्रह्मसूत्र धारण करके ही कर सकती हैं। महाकवि बाण ने अपने 'कादम्बरी' महाकाव्य में तपस्या में निरत महाश्वेता का वर्णन किया है कि—**अयुग्मलोचन-सकाशाद् लब्धेन चूडामणिचन्द्रम-यूखजालेनेव मण्डलीकृतेन ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकायाम्**,—अर्थात् महादेव की कृपा से मिला हुआ चूडामणि चन्द्र की किरणतन्तुओं से ही मानो मण्डलाकार बने हुए **ब्रह्मसूत्र** (शुभ्र यज्ञोपवीत) को पहनकर महाश्वेता ने अपने शरीर को पवित्र किया हुआ था।

---

१. म०भा० शान्ति० २२४/६०

दो प्रकार की स्त्रियाँ—

'स्मृतिचन्द्रिका' में उद्धृत हारीत धर्मसूत्र तथा अन्य निबन्धों में निम्नलिखित बात पाई जाती है कि—स्त्रियों के दो प्रकार हैं; एक ब्रह्मवादिनी और दूसरी सद्योवधू, जो सीधे विवाह कर लेती हैं; इनमें ब्रह्मवादिनी को उपनयन करना, अग्निहोत्र करना, वेदाध्ययन करना, अपने गृह में भिक्षाटन करना होता था, किन्तु सद्योवधुओं को विवाह के समय ही उपनयन करा दिया जाता था। तदाह हारीतः—**द्विविधा स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भिक्षाचर्येति। सद्योवधूनां तु उपस्थिते विवाहे कथंचिदुपनयन-मात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः।** स्मृतिचन्द्रिका (भाग १, पृष्ठ २४, 'संस्कार मयूख' पृष्ठ ४०२) एवं गोभिल गृह्यसूत्र (२-१-१९) के अनुसार कन्याओं को उपनयन के प्रतीकस्वरूप यज्ञोपवीत धारण करना होता था[१]। हारीत ने व्यवस्था की है कि ऋतु-धर्म चालू होने से पूर्व ही कन्याओं का समावर्तन हो जाना चाहिए[२]। स्पष्ट है कि ब्रह्मवादिनी कन्याओं का उपनयन गर्भाधान से आठवें वर्ष में होता था, वे वेदाध्ययन करती थीं। हारीत-मतानुसार उनका छात्रा-जीवन ऋतुधर्म होने से पूर्व ही समाप्त हो जाता था। यम ने भी लिखा है कि प्राचीन काल में मूँज की मेखला बाँधना (उपनयन) कन्याओं के लिए भी विहित था, उन्हें वेद पढ़ाया जाता था। वे पवित्र गायत्री मन्त्र का उच्चारण करती थीं, उन्हें उनके पिता, चाचा, या भाई पढ़ा सकते थे। अन्य कोई बाहरी पुरुष नहीं पढ़ा सकता था। वे गृह में ही भिक्षा माँग सकती थीं। उन्हें मृगचर्म या वल्कल-वसन नहीं पहनना पड़ता था और न वे

---

१. "प्रावृता यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयंन जपेत् सोमोऽददद् गन्धर्वायेति।"—गोभिल २/१/१४

२. प्राग् रजसः समावर्तनम् इति हारीतोक्त्या।—संस्कारप्रकाश पृ० ४०४

जटाएँ रखती थीं[१]।

अत्रेतिहासमाचक्षते—

अब कुछ ऐतिहासिक प्रमाण देकर कन्योपनयनाधिकार-विषयक प्रकरण को समाप्त करेंगे। आचार्य हारीत के मतानुसार ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू दो प्रकार की स्त्रियाँ हैं; उनमें ब्रह्मवादिनी वे हैं जिन्हें नित्य अग्निहोत्र करना, वेदाध्ययन करना और भिक्षाटन करना होता था। उनमें प्रथम अग्निहोत्र-विषयक प्रमाण महाराजा दशरथ की पटरानी महारानी कौसल्या का मिलता है कि—**सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यव्रतपरायणा। अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमंगला**[२]—अर्थात् वह रेशमी साड़ी पहनी हुई, प्रसन्नमना और नित्यव्रत में परायण कौसल्या मन्त्रों-सहित अग्निहोत्र करती है। पाण्डवों की माता कुन्ती के लिए वर्णन आता है कि वह प्रतिदिन अथर्वशीर्षमंत्रों का अध्ययन करती थी। म० भा० वनपर्व (२८९/२०) में उल्लेख है कि—**ततस्तामनवद्यांगीं ग्राहयामास स द्विजः। मन्त्रग्रामं तदा राजन्नथर्वशिरसि श्रुतम्।** इसी प्रकार श्री राम के दूत हनुमान् लंका से माता सीता की खोज करते-करते जब अशोकवाटिका में पहुँचे और निर्मल जलवाली नदी को देखा तो निश्चय कर लिया कि अब तुम्हें भटकने की आवश्यकता नहीं। यहीं वृक्षों में छुपे रहो, क्योंकि यदि भगवती सीता जीवित होगी तो अवश्य ही इस नदी के किनारे सन्ध्या के लिए आएगी। हनुमान् ने भी सीता की पहचान का चिह्न सन्ध्या को माना, तद्यथा—**सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी। नदीं चेमां शिवजलां**

---

१. पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जीन्बधनमिष्यते। अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा। पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः। स्वगृहे चैव कन्याया भैक्षचर्या विधीयते। वर्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च। (संस्कारप्रकाश पृ० ४०२, ४०३; स्मृतिचन्द्रिका भाग १, पृ० २४)

२. वा०रा० अ० २०/२५

सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी। (रामा० सु० का० १०/५०) यदि भगवती सीता प्रातः-सायं सन्ध्या करती थीं तो उनका यज्ञोपवीत धारण करना स्वतःसिद्ध है। शास्त्रीय विधानानुसार सन्ध्यादि कर्म करने का अधिकार उसी को है जिसने यज्ञोपवीत धारण किया हुआ हो। फिर भी हम यहाँ एक ऐसा प्रमाण उपस्थित करते हैं जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि देवी सीता ने यज्ञोपवीत पहना हुआ था।

यह प्रसंग उस समय का है जब मेघनाद माया-युद्ध कर रहा था। उसने एक ओर भगवती सीता को भ्रमित करने के लिए सीता के सामने राम-लक्ष्मण के कटे हुए बनावटी सिर उपस्थित किए जिससे सीता को विश्वास हो जाए कि जिनके आधार पर तुम संघर्ष कर रही हो, जब वे ही नहीं रहे तो अब मुक्ति की आशा व्यर्थ है, अतः विवशतः रावण का प्रस्ताव मान लेना चाहिए और आत्म-समर्पण कर देना चाहिए। दूसरी ओर हनुमान् आदि वानर वीरों को भ्रमित करने के लिए कि जिसकी प्राप्ति के लिए यह भयंकर युद्ध किया जा रहा है, जब वह ही नहीं रही तो इतना रक्तपात व्यर्थ है। अतः मेघनाद बनावटी सीता को रथ में बिठाकर युद्धभूमि में ले आया और वीरवर हनुमान् के सामने ही वध करने को उद्यत हुआ। मेघनाद जैसे ही सीता को मारने के लिए तीक्ष्ण धार वाली तलवार से प्रहार करने लगा, वैसे ही हनुमान् ने मेघनाद को वर्जित करते हुए कहा कि—तुम्हें सीता का वध नहीं करना चाहिए; एक तो वह स्त्री है, दूसरे घर से, राज्य से और श्री रामचन्द्रजी के आश्रय से भी बिछुड़ गई है। इन्होंने तेरा क्या अपराध किया है, जो तू इन्हें इतनी निर्दयता से मार रहा है? सीता को मारकर तू अधिक काल तक किसी तरह जीवित न रह सकेगा। वध के योग्य नीच! तू अपने पाप-कर्म के कारण मेरे हाथ में पड़ गया है। लोक में अपने पाप के कारण वध के योग्य माने गये जो चोर आदि हैं वे भी जिन लोकों की निन्दा करते हैं तथा जो स्त्री-हत्यारों को मिलते हैं, तू अपने प्राणों का परित्याग करके

उन्हीं नरक-लोकों में जाएगा। अतः ऐसा क्रूर कर्म मत करो! इसके उत्तर में मेघनाद ने कहा कि तुम जो यह कहते हो कि स्त्रियों को मारना नहीं चाहिए तो उसके उत्तर में मैं कहना चाहूँगा कि यह भी शास्त्रीय विधान है कि—जिस कार्य के करने से शत्रु को अधिक कष्ट पहुँचे उसे अवश्य करना चाहिए। हनुमान् जी से ऐसा कहकर मेघनाद ने स्वयं तेज़ धारवाली तलवार से उस रोती हुई मायामयी सीता पर घातक प्रहार किया॥ २९॥ मारने से पूर्व उसने सीता के यज्ञोपवीत को झटक- कर तोड़ दिया और फिर सीता के दो टुकड़े कर दिए। रामायण के शब्द इस प्रकार हैं—**शितधारेण खड्गेन निजघानेन्द्रजित् स्वयम्। यज्ञोपवीतमाधूय भिन्ना तेन तपस्विनी**॥ (वा० रा० यु० ६२/३१) यहाँ स्पष्ट वर्णन है—**'यज्ञोपवीतम् आधूय'**—यज्ञोपवीत को झटककर, खैंचकर अथवा तोड़कर। अतः स्पष्ट है कि भगवती सीता यज्ञोपवीत धारण करती थीं, तभी तो सीता की बनावटी प्रतिकृति को यज्ञोपवीत पहनाया गया।

रामायण के पाठ-भेद—

रामायण में प्रक्षेप करनेवालों ने 'यज्ञोपवीतमाधूय' श्लोक-चरण को बदलकर 'यज्ञोपवीतमार्गेण' कर दिया जिससे यह सिद्ध न हो सके कि भगवती सीता यज्ञोपवीत पहनती थीं। अपितु यह सिद्ध हो कि मेघनाद ने तेज़ धार वाली तलवार से देवी सीता को ऐसे काट दिया जिस प्रकार शरीर पर यज्ञोपवीत धारण किया जाता है, अर्थात् सीता को उसके वाम स्कन्ध से दक्षिण कटिप्रदेश तक तिरछा काट दिया।

हमारे पास वाल्मीकि रामायण के कई संस्करण हैं। हम सभी के पाठ देख रहे थे जब मद्रास के लॉ जर्नल प्रेस से (१९३३) प्रकाशित श्री० कुप्पुस्वामी द्वारा सम्पादित रामायण के इसी श्लोक के पाठ-भेद "यज्ञोपवीतमाधूय" को देखा तो हमारे हर्ष का ठिकाना न रहा। श्री

सुन्दरेश शास्त्री द्वारा सम्पादित और जनरल प्रिंटिंग वर्क्स, कलकत्ता में १९५९ में मुद्रित वाल्मीकि रामायण में भी 'यज्ञोपवीतमाधूय' पाठ ही है। इस प्रमाण से स्पष्ट हो गया कि सीता यज्ञोपवीत पहने हुए थी। इससे स्पष्ट होता है कि रामायण के समय कन्याओं को वेदाधिकार प्राप्त था। न केवल आर्य-कन्याओं को ही, अपितु वानर-कन्याओं को भी वेदाधिकार था। रामायण-किष्किन्धाकाण्ड में बाली की पत्नी तारा का जो वर्णन मिलता है उससे ज्ञात होता है कि वह न केवल कुशल राजनीतिज्ञा ही थी, अपितु वेदादि सच्छास्त्रों की ज्ञाता भी थी। उसके लिए—'मंत्रविद्' विशेषण इस बात का परिचायक है, जैसे कि लिखा है—**ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयैषिणी। अन्तःपुरं सहस्त्रीभिः प्रविष्टा शोकमोहिता॥** (वा० रा० कि० १६/१२) तत्पश्चात् बाली के द्वारा सुग्रीव के साथ युद्ध के लिए चले जाने पर 'शोकाभिभूत वह मन्त्रविद् विजय की कामनावाली स्वस्तिवाचनादि मांगलिक मन्त्रों का पाठ करके अन्य स्त्रियों के साथ अपने अन्तःपुर में प्रविष्ट हुई।' इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि तारा समयानुकूल प्रयोग किये जाने वाले मन्त्रों को जानती भी थी और उनका सस्वर पाठ भी कर सकती थी।

ब्रह्मवादिनी सुलभा—

ब्राह्मणोपनिषदों में गार्गी, मैत्रेयी, सुलभा आदि स्त्रियाँ नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी तथा ब्रह्मवादिनी थीं—ऐसा प्रमाण मिलता है। उनमें से गार्गी और मैत्रेयी ने महर्षि याज्ञवल्क्य के साथ शास्त्रार्थ किया और सुलभा ने महाराजा जनक के साथ। महाराजा जनक ने जब सुलभा से उसका परिचय पूछा तब उसने साभिमान उत्तर दिया—**साहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसति मद्विधे। विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम्॥** (महाशा० शा० ३०८/१८४) इस श्लोक पर नीलकण्ठी

टीका इस प्रकार है—**तस्मिन्व्याख्यातप्रभावे कुले विनीता गुरुभिः शिक्षिता मद्विधे भर्तर्यसत्यप्राप्ते सति नैष्ठिकब्रह्मचर्यमाश्रित्य संन्यासं कृतवत्यस्मीत्यर्थः**, अर्थात् मैं प्रभावशाली क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुई हूँ और गुरुओं से मैंने शिक्षा पाई है; ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर मेरे योग्य पति न मिलने से मैंने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का आश्रय लेकर संन्यास-व्रत का ग्रहण किया है।

संन्यास धर्म सर्वोत्कृष्ट है; ब्रह्मवादिनियों को ही प्राप्त हो सकता है। अतः इन ब्रह्मवादिनियों के जीवन से सिद्ध हो गया कि कन्याओं के जीवन में ऋतु-धर्म आड़े नहीं आता। वे चाहें तो आजीवन ब्रह्मचारिणी रह सकती हैं, वेदाध्ययन कर सकती हैं, वेद-प्रवचन कर सकती हैं।

स्त्रियाँ भी ऋषिकाएँ हो सकती हैं—

स्त्रियाँ न केवल ब्रह्मसूत्र का अधिकार रखती हैं, न केवल यज्ञ एवं वेदाधिकार रखती हैं, न केवल ब्रह्मवादिनी होती हैं, अपितु वे वेदों की ऋषिकाएँ भी हो सकती हैं। जो ऋषिकाएँ हो चुकी हैं उनके नाम आज भी वेदों के सूक्तों पर अंकित हैं जिनकी सं० इक्कीस है और उनके नाम इस प्रकार हैं—

सं०	नाम	मंडल	सूक्त	ऋचा
१.	रोमशा	१	२६	७
२.	लोपामुद्रा	१	१७९	१—६
३.	विश्ववारा	५	२८	१—६
४.	शश्वती	८	१	३८
५.	अपाला	८	९१	१—७
६.	यमी	१०	१०	१,३,५,७,११,१३
७.	घोषा	१०	३९-४०	१-१८
८.	सूर्य्या	१०	८५	१-४७
९	इन्द्राणी	१०	८६	१-२३

१०.	उर्वशी	१०	९५	२,४,५,७,११,१३,१५,१६,१८
११.	दक्षिणा	१०	१०७	१-११
१२.	सरमा	१०	१०८	२,४,६,८,१०,११
१३	जुहू	१०	१०९	१-७
१४.	वाग्	१०	१२५	१-८
१५.	रात्रि	१०	१२७	१-७८
१६.	गोधा	१०	१३४	७
१७.	इन्द्राणी	१०	१४५	१-६
१८.	श्रद्धा	१०	१५१	१-५
१९.	इन्द्रमातरः	१०	१५३	१-५
२०.	शची	१०	१५९	१-६
२१.	सार्पराज्ञी	१०	१८९	१-३

मन्त्रकृत्=मन्त्रव्याख्यात्री ऋषिकाओं की परम्परा अत्रिकुल की स्त्रियों में भी विद्यमान थी, जैसा कि जैमिनीय ब्राह्मण (२/२१९) में लेख है—'परःसहस्रा हास्य (अत्रेः) प्रजायां मन्त्रकृत आसुरपि हास्य स्त्रियो मन्त्रकृत आसुः।

भगवान् मनु और आचार्य सुमन्तु के विधान के अनुसार कि 'बिना यज्ञोपवीत धारण किए वेद का उच्चारण न करें' के अनुसार उपर्युक्त मन्त्रद्रष्ट्री ऋषिका स्त्रियों का यज्ञोपवीत स्वतःसिद्ध है। अतः कन्याओं को यज्ञोपवीत धारण करना सिद्ध हुआ।

संस्कार में 'यथायोग्य' पद—

लगते हाथ इस यथायोग्य की व्याख्या भी करनी आवश्यक है। महर्षि स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि "द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके यथोक्त आचार्य-कुल में अर्थात् अपनी-अपनी पाठशाला में भेज दें (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)। प्रायः 'यथायोग्य' शब्द को लेकर

परस्पर विवाद होता है कि कन्याओं का उपनयन तो हो जाय, परन्तु उनका यज्ञोपवीत न हो, यही यथायोग्य का अर्थ है। हम लिख आए हैं कि यज्ञोपवीत तो उपनयन-संस्कार की आत्मा है। इसके बिना उपनयन ही असम्भव है। यदि आपने कन्या का उपनयन मान लिया तो यज्ञोपवीत तो स्वतः सिद्ध हो गया। फिर प्रश्न रहता है कि यथायोग्य क्यों लिखा? हमने इस प्रश्न को लगते हाथ इसलिए स्पष्ट करना उचित समझा कि कन्याओं के यज्ञोपवीत की बात चल रही है।

"यथायोग्य संस्कार कराके" में सर्वप्रथम स्थूल बात तो यह आ जाती है कि यथा बालक का मुण्डन आवश्यक है, तद्वत् बालिका का मुण्डन आवश्यक नहीं। दूसरे, आगे चलकर कुछ ऐसी विधियाँ आती हैं जो कुलपुरोहित द्वारा किसी कन्या के प्रति नहीं की जा सकतीं। यदि की जायँ तो उन्हें लोकाचार के विरुद्ध समझा जायगा। यथा, संस्कार में लिखा है कि आचार्य ब्रह्मचारी को सम्मुख बिठाकर, ब्रह्मचारी के नाभि, हृदय, स्कन्ध प्रदेशों का स्पर्श करे। ऐसा किसी शिशु-कन्या के प्रति करना संभव कहा जा सकता है, परन्तु कुमारी अथवा युवती के प्रति किया जाना सर्वथा अयुक्त होगा। समाज तथा लोकाचार इसकी कभी आज्ञा नहीं दे सकता, न कन्या के माता-पिता ही आज्ञा दे सकते हैं। बहुत सम्भव है कि मध्ययुग में स्त्रियों के यज्ञोपवीत का इसीलिए निषेध हो गया हो कि कुलपुरोहित के सामने यह समस्या आ गई हो कि हृदय, नाभि, स्कन्ध आदि की स्पर्शविधि कैसे करायी जाय? उन्होंने उचित समझा कि कन्याओं का उपनयन ही न कराओ। इसका प्रतिकार करने के लिए ऋषि ने कहा कि लड़कियों का यथायोग्य संस्कार करा दो, सो यथायोग्य में यही आता है कि उनके नाभि, हृदय आदि का स्पर्श न करे।

इसपर कोई यह कहेंगे कि आचार्य ने कन्याओं के लिए स्त्री-आचार्या का विधान किया है, इसलिए यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता

कि पुरुष-आचार्य कन्या का हृदय-स्पर्श करके उक्त मंत्र पढ़े। हमारा इस प्रसंग में यही निवेदन है कि यह यज्ञोपवीत घर पर हो रहा है, न कि आचार्य-कुल में, अतः घर पर पुरोहित द्वारा यज्ञोपवीत होने की अवस्था में आचार्य दयानन्द ने उक्त व्यवस्था दी है। क्योंकि पुरोहित-कार्य पुरुष ही करेगा, इसलिए महर्षि ने लिखा कि लड़कियों का भी यथायोग्य संस्कार कराएँ। इसका आशय है—मुण्डन-विधि, नाभि-हृदय-स्कन्ध आदि स्पर्श न कराएँ।

आचार्य के वात्सल्य-रस की तीन धाराएँ—

उपनयन की कामनावाला आचार्य जहाँ अपने प्रथम रूप **मृत्यु** को तथा द्वितीय रूप **वरुण** को प्रकट करता है, वहाँ वह **सोम—ओषधयः—पयः** इन तीन रूपों को भी प्रकट करता है। आचार्य जहाँ ब्रह्मचारी के नाभि, हृदय और मूर्धा इन तीनों केन्द्रों को वरुणपाश से त्रिधा बाँधता है वहाँ इसी वरुणपाश (यज्ञोपवीत) के तमस्, रजस् और सत्त्व त्रिसूत्र से ब्रह्मचारी के नाभि, हृदय और मूर्धा-केन्द्रों को क्रमशः ओषधि, पयः और सोमरस से आप्यायित भी करता है। यही आचार्य का मातृरूप है, यही उसका वात्सल्य-रस।

आचार्य के पाँच नामों में जहाँ पहले दो नामों से उसकी कठोरता प्रकट होती है वहाँ पिछले तीन नामों से उसका सौम्य रूप प्रकट होता है। जहाँ दो नामों से उसका रौद्ररूप प्रकट होता है, वहाँ पिछले तीन नामों से वात्सल्यरूप प्रकट होता है। वह पहले दो नामों से पिता, और पिछले तीन नामों से माता नाम को सार्थक करता है। वात्सल्यरस को प्रवाहित करता हुआ आचार्य ओषधि तथा समस्त दोषों, दाहों का प्रक्षालन कर देनेवाले सामान्य जलों के समान इसकी नाभि को शुद्ध करके ओषधियों-की-ओषधि वीर्यरस से आप्यायित करता है। इसी प्रकार आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय-केन्द्र को पयः-रस से आप्यायित

करता है। पयः नाम दूध का है जो वत्सलता का प्रतीक है। माता में जहाँ वात्सल्यभाव आया कि उसके स्तनों में दूध उतर आया। वह वात्सल्यभाव हृदय में उठता है। तात्पर्य यह कि आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय-केन्द्र को वात्सल्य-रस से आप्यायित कर दे।

ब्रह्मसर में स्नान—

जैसे आचार्य ओषधिरस से नाभि को, पयः-रस से हृदय को आप्यायित करे, वैसे ही **सोमरस** से मूर्धा को, मस्तिष्क को आप्यायित करे। ओषधिरस से आप्यायित करना नाभि तक स्नान कराना है, पयः-रस से आप्यायित करना हृदय तक स्नान कराना है और सोमरस से आप्यायित करना मूर्धा तक स्नान कराना है (मूर्द्धाभिषिक्त करना है)। यह ध्यान रहे कि तीनों (ओषधि,पयः और सोम) की परिसमाप्ति ब्रह्मसर में है; ब्रह्म-समुद्र में, उत्तम समुद्र में तैरता है, यही उसका परमरस है।

ब्रह्म का अर्थ परब्रह्म—

केन्द्रभूत ब्रह्म का अर्थ यदि 'परम रस' है तो ब्रह्मचारी के नाभि, हृदय और मूर्धा नामक उपकेन्द्रों को पहुँचाये जाने वाले रसों का नाम क्रमशः ओषधि, पयः और सोम है। और यदि ब्रह्म का अर्थ परमात्मशक्ति है, तो उस तक पहुँचाने के साधनभूत अष्टांग-योग के तीन प्रमुख अंगों का परिज्ञान कराना आचार्य का कर्त्तव्य है। वे प्रमुख अंग हैं प्राणायाम, धारणा और ध्यान।

नाभि द्वारा प्राण का आयाम करना (नाभि प्राणों का केन्द्र है, यह हम दिखा आए है) नाभिप्रदेश में ही मूलबन्ध और उड्डियान-बन्ध आदि बन्धों के द्वारा प्राण का आयाम हठयोग में बताया है। इसलिए नाभि द्वारा प्राणायाम, हृदय द्वारा धारणा-अङ्ग की और मूर्धा द्वारा ध्यान-अङ्ग की सिद्धि कराना अभीष्ट है। मूर्धा वह केन्द्र है जहाँ मन का निवास

है। मन को निर्विषय बना देना ही ध्यान है—**ध्यानं निर्विषयं मनः** (सांख्य ६/२५)।

इस प्रकार नाभि द्वारा प्राण का आयाम, हृदय द्वारा चित्त का आयाम और मूर्धा द्वारा मन का आयाम करना सिखाकर इनको ब्रह्म से ग्रथित कर दे। यज्ञोपवीत की ब्रह्मग्रन्थि जहाँ ब्रह्म से ग्रथित करने का उपदेश देती है, वहाँ उसके तीनों सूत्र प्राण, चित्त और मन का आयाम करने की सूचना दे रहे हैं। यज्ञोपवीत के त्रिसूत्र और ग्रन्थि का एक रहस्य यह भी है। यह सूत्र जहाँ प्राण, चित्त और मन की सूचना दे रहे हैं, वहाँ अपने को ब्रह्म से नत्थी कर सूत्रों-के-सूत्र परमब्रह्म की ओर इंगित करते प्रतीत होते हैं।

ब्रह्म का अर्थ वेद-विद्या—

ब्रह्मग्रन्थि में आए ब्रह्म का अभिप्राय जहाँ परब्रह्म है, वहाँ उसका एक अर्थ वेद भी है। इसीलिए इस सूत्र को जहाँ ब्रह्मसूत्र कहते हैं, वहाँ विद्यासूत्र भी कहते हैं। ये सूत्र वेद की ओर भी निर्देश कर रहे हैं। इसलिए इन सूत्रों को जहाँ ब्रह्म से ग्रथित करना वेदारंभ का उद्देश्य है वहाँ वेद से ग्रथित करना भी है। आचार्य का कर्त्तव्य है कि ब्रह्मचारी के प्रकृति-सूत्र को जहाँ एक ओर मूर्धा, हृदय और नाभि से युक्त करे वहाँ इन सूत्रों को वेद से ग्रथित करे जिससे ब्रह्मचारी अपने मूर्धा, हृदय और नाभि को ऋग्, यजुः, साम की ओर अभिमुख कर दे। ब्रह्मचारी ज्ञान, कर्म, उपासना की त्रयी को पार करके त्रिधा बंधन से मुक्त हो जाए, तब कहीं उसका लोक विज्ञानमय होगा, तब कहीं उसकी अवस्था अ-थर्व, निश्चल, समाधिस्थ योगी की होगी। यज्ञोपवीत के ब्रह्म से ग्रथित तीनों सूत्र जहाँ, ऋग्यजुःसाम वेदत्रयी के ज्ञान, कर्म, उपासना काण्डत्रय के द्योतक हैं वहाँ ब्रह्मग्रन्थि ब्रह्म = अथर्व = विज्ञान, समाधि की द्योतक है।

यज्ञसूत्र—

यज्ञोपवीत यज्ञ के समीप ले-जाने की प्रामाणिकता का चिह्न है। उपवीत शब्द से पहले यज्ञ शब्द का प्रयोग इसकी सूचना दे रहा है। इस सूत्र को जहाँ ब्रह्म-सूत्र, विद्या-सूत्र कहते हैं वहाँ यज्ञ-सूत्र भी कहते हैं। इसके त्रिसूत्र सूत्रों-के-सूत्र यज्ञ की ओर निर्देश कर रहे हैं। इसके त्रि-सूत्र जहाँ देवपूजा-संगतिकरण-दान के प्रतीक हैं, वहाँ सूत्रग्रन्थि यज्ञ की द्योतक है।

आचार्य इन्हीं सूत्रों के द्वारा यज्ञ के त्रिविध तत्त्वों का परिचय कराता है। आचार्य ब्रह्मचारी के मूर्धा नामक उत्तम केन्द्र को देवपूजा-तत्त्व से, उसके हृदय नामक मध्यम केन्द्र को संगतिकरण-तत्त्व से, उसके नाभि नामक निचले केन्द्र को दान-तत्त्व से युक्त कराता है। ब्रह्मचारी जब देव-पूजा, संगतिकरण और दान के रहस्य को जीवन का अंग बना लेता है तब वह कर्मकाण्ड से मुक्त होकर यज्ञरूप धारण कर लेता है।

यज्ञ त्रिवृत् है। पुरुष यज्ञमय है। इसको यज्ञरूपता प्रदान करने के लिए ही यज्ञोपवीत के सूत्रों से घेरा जाता है। ये सूत्र देवपूजा, संगतिकरण और दान—इन तीन वृत्तों के द्योतक हैं। आचार्य द्वारा निर्मित यज्ञ-वृत्त में रहना ही ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य है। इन वृत्तों को तोड़ना यज्ञोपवीत के सूत्रों को तोड़ना है। यज्ञोपवीत और उसके सूत्रों की रक्षा करना यज्ञ और यज्ञवृत्त की रक्षा करना है।

देव का प्रतीक अग्नि है। दान का प्रतीक आज्य है और संगतिकरण का प्रतीक समिधा है। इन प्रतीकों का परिज्ञान कराना भी आचार्य का कर्तव्य है। दान वह तत्त्व है जिसपर देवपूजा अवलंबित है और संगतिकरण वह तत्त्व है जिसपर दान अवलम्बित है। इसीलिए संगतिकरण के प्रतीक-भूत समिधा का यज्ञ में महत्त्व है। समिधा

यज्ञपुरुष का हृदय है, अग्नि यज्ञपुरुष की मूर्धा है, आज्य यज्ञपुरुष की नाभि है। जब ब्रह्मचारी अपनी मूर्धा को अग्नि, हृदय को समिधा, नाभि को आज्य बना ले, तब समझो कि उसे यज्ञविद्या का मर्म आ गया। इसके लिए आवश्यक है कि वह अपने को समिधा बनाए। मूर्धा, हृदय, नाभि तीनों को तीन समिधाएँ बनाए। इसी को वैदिक भाषा में द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी नामक समिधा कहते हैं। ब्रह्मचारी के समित्पाणि होकर आने का आशय भी यही है कि वह अपने स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरत्रय को, कर्म-उपासना-ज्ञान काण्डत्रय को, मनोमय-प्राणमय-अन्नमय कोषत्रय को, मूर्धा-हृदय-नाभि केन्द्रत्रय को, द्यौ-अन्तरिक्ष-भूः लोकत्रय को समिधा बनाकर आचार्य अग्नि में समर्पित कर दे, जिससे अग्निमय होकर मूर्तिमान् यज्ञ बन जाए। तब कहीं त्रिधा बन्धन के त्रिसूत्र से निर्मित यज्ञोपवीत से मुक्त हो पायेगा।

सावित्री-ग्रन्थि—

यज्ञोपवीत में लगी ग्रन्थि को जहाँ ब्रह्मग्रन्थि कहते हैं वहाँ उसे सावित्री-ग्रन्थि भी कहते हैं। आचार्य पिता है तो सावित्री वेदमाता है। सावित्री में ब्रह्मचारी गर्भ है। सावित्री माता अपने त्रिविध सूत्रों के द्वारा ब्रह्मचारी के मूर्धा, हृदय, नाभि—त्रिविध केन्द्रों को अपनी त्रिविध शक्तियों के साथ जोड़े रहती है। अपनी धी-शक्ति से ब्रह्मचारी के मूर्धा-केन्द्र को, अपनी वरेण्य-शक्ति से ब्रह्मचारी के हृदय-केन्द्र को, अपनी भर्ग-शक्ति से ब्रह्मचारी के नाभि-केन्द्र को जोड़े रहती है। पिता- आचार्य का कर्त्तव्य है कि सावित्री-माता की कुक्षि में संधारित ब्रह्मचारी-गर्भ के मूर्धा, हृदय और नाभि का परिपाक हो रहा है या नहीं, यह देखे—सावित्री की धी नामक शक्ति ब्रह्मचारी के मूर्धा-केन्द्र को आप्यायित कर रही है वा नहीं? सावित्री की वरेण्य-शक्ति ब्रह्मचारी के हृदय-केन्द्र को आप्यायित कर रही है वा नहीं? सावित्री की भर्गशक्ति

ब्रह्मचारी के नाभि-केन्द्र को आप्यायित कर रही है वा नहीं?

सावित्री की भर्ग नामक शक्ति ब्रह्मचारी के नाभि-गर्भ में रहने वाले रसों का परिपाक करके वीर्यरूप प्रदान करती है। वीर्य ही भर्ग है जो व्यक्ति का परिपाक करता है। सूर्य, सविता की भर्गशक्ति जिस प्रकार नानाविध वस्तुओं को पका रही है, वस्तुओं को नानाविध रूप प्रदान कर रही है, तद्वत् वीर्य-भर्ग भी शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों का परिपाक करता है। शतपथ में भर्ग[१] का अर्थ ही वीर्य किया है। सावित्री माता की वरेण्य-शक्ति ब्रह्मचारी के हृदय को वरेण्यता प्रदान करती है। ब्रह्मचारी का वरेण्य हृदय ही आचार्य के व्रत को इसमें संधारित करता है। आचार्य भी ब्रह्मचारी के वरेण्य हृदय-व्रत को अपने हृदय में संधारित करता है। इसी प्रकार सावित्री माता अपनी धी नामक शक्ति का ब्रह्मचारी की मूर्धा में निपात करके उसे प्रज्ञावान्, मेधावान् और स्मृतिमान् बनाती है। सावित्री माता द्वारा निर्मित भर्ग, वरेण्य और धी नामक वृत्त ही यज्ञोपवीत के त्रिवृत्त हैं। भर्ग-वृत्त के रक्त, वीर्य और ओज तीन उपसूत्र हैं। वरेण्य-वृत्त के व्रत, दीक्षा और दक्षिणा उपसूत्र हैं। इसी प्रकार धी-वृत्त के प्रज्ञा, मेधा और स्मृति तीन उपसूत्र हैं।

सावित्री के वृत्त—

सावित्री के जहाँ भर्ग, वरेण्य और धी सूत्र हैं वहाँ भूः, भुवः, स्वः महाव्याहृतिरूप तीन सूत्र हैं। उसी के मूल प्रणव = ओंकार के अकार, उकार, मकार अक्षर वृत्तत्रय हैं, जिनमें रहकर ब्रह्मचारी मर्यादित जीवन व्यतीत करता है। सूत्र-निर्मित यज्ञोपवीत-वृत्त के किसी सूत्र को टूटने न देने का आशय यही है कि सावित्री वृत्त न टूटे अन्यथा—ब्रह्मचारी-गर्भ का परिपाक न हो सकेगा, वह दूसरा जन्म ग्रहण नहीं कर सकेगा, शूद्र रह जाएगा।

यज्ञोपवीत के नामों में एक नाम **व्रतसूत्र** भी है, जो इस बात का

प्रमाण है कि मुझे धारण करनेवाले का कोई व्रत है। व्रतहीन व्यक्ति अनार्य है; व्रतयुक्त व्यक्ति आर्य है। यज्ञोपवीत के त्रिसूत्र जहाँ एक ओर ब्रह्मग्रन्थि से, संकल्पग्रन्थि से, व्रतग्रन्थि से ग्रथित हैं, वहाँ वे दूसरी ओर ब्रह्मचारी के मूर्धा, हृदय और नाभि से भी जुड़े हुए हैं। यही व्रत मूर्धा में दीक्षा का, नाभि में दक्षिणा का और हृदय में श्रद्धा का रूप धारण करता है। आचार्य ब्रह्मचारी को दीक्षा, दक्षिणा, श्रद्धारूप त्रिवृत् से घेरता है। यही ब्रह्मचारी का व्रत-वृत्त है। इसी व्रत-वृत्त के जहाँ दीक्षा, दक्षिणा, श्रद्धा मुख्य सूत्र हैं, वहाँ दीक्षा के सत्य, यशः श्री; दक्षिणा के समिधा, मेखला (कटिबद्धता) और श्रम तथा श्रद्धा के तप, त्याग और तितिक्षा उपसूत्र भी हैं। इसी के फिर सत्त्व, रजस्, तमस् के ब्याज से तीन-तीन उपोपसूत्र समझ लेने चाहिएँ। दक्षिणा के लिए आय की, श्रद्धा के लिए न्याय की और दीक्षा के लिए अध्याय की आवश्यकता होती है। **आय, न्याय** और **अध्याय** जब व्रत का रूप धारण करते हैं तब वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्ण का जन्म होता है। इस प्रकार व्रत-वृत्त या वर्ण-वृत्त की सूचना जिन सूत्रों में दी जाती है उन्हें ही व्रत-सूत्र कहा जाता है। इस प्रकार यज्ञोपवीत के ब्रह्मसूत्र, विद्यासूत्र, व्रतसूत्र, यज्ञसूत्र आदि नामों की व्याख्या उसकी ब्रह्म, सावित्री आदि ग्रन्थि की व्याख्या तथा यज्ञोपवीत के मुख्य तीन सूत्र, उनके तीन उपसूत्रों, उनके भी उपोपसूत्रों की व्याख्या हो चुकी।

चप्पा ही क्यों?

ब्रह्मचारी के अपने चप्पे से नापने का प्रयोजन क्या हो सकता है। नाप के लिए चप्पा ही क्यों? पञ्जा क्यों नहीं? अंगुष्ठ को क्यों सम्मिलित नहीं किया गया? पञ्जे को नाप का साधन बनाने से यज्ञरूपता आ जाती। बहुत विचारने पर यही निष्कर्ष निकला कि चप्पा ही उपयुक्त है, पञ्जा नहीं। अंगुष्ठ को पृथक् रखना ही उपयुक्त है—

इसका भी कुछ रहस्य है।

चप्पे की तीन अंगुलियाँ प्रकृति के तीन गुणों का प्रतीक हैं, जबकि चौथी अंगुली जिसे अनामिका कहते हैं, तीन गुणों की साम्यावस्था का प्रतीक है। प्रत्येक आत्मा अपने ही प्रकृति-सूत्र से बँधता है, परन्तु तभी, जबकि ब्रह्म का सहयोग हो। उसी ब्रह्म का प्रतीक अंगुष्ठ है। वह अंगुलियों से वियुक्त रहकर भी उनसे संयुक्त है। ब्रह्म भी प्रकृति से अलिप्त रहकर भी उसमें व्याप्त है। जिस प्रकार अंगुष्ठ अलग होते हुए भी हर अंगुलि के पर्व-पर्व पर ठहरता है—"अंगुल्यामगुल्यां तिष्ठतीत्यङ्गुष्ठः", गणना के लिए अंगुष्ठ की ही सहायता लेनी पड़ती है, कोई भी अंगुली यह कार्य नहीं कर सकती। अतः अंगुष्ठ को छोड़कर चप्पे से नापने का यही प्रयोजन है कि ब्रह्मचारी अपने सत्त्व, रजस्, तमस् रूप प्रकृति-सूत्र और उसकी साम्यावस्थारूप चतुर्थ सूत्र को ब्रह्म से ग्रथित कर दे। ब्रह्म से ग्रथित हुए बिना न प्रकृति-वृत्त ही बन सकता है, न ब्रह्मचारी ही घेरा जा सकता है; बस आचार्य ब्रह्मचारी द्वारा नापे हुए सूत्र को ब्रह्म से ग्रथित कर दे। ब्रह्मचारी के अपने चप्पे और अंगुष्ठ के सहयोग से बनी मुट्ठी में उसका अपना-आपा हो। आचार्य वेद के अंगुष्ठ से जब तक चाहे बाँधे रखे और चाहे तो मुक्त कर दे।

छानवे चप्पे ही क्यों?

यज्ञोपवीत-निर्माण के लिए जितना सूत्र अपेक्षित है वह ब्रह्मचारी के अपने चप्पे के नाप से छानवे चप्पे[1] होना चाहिए। फिर उसे तिहरा करके इकहरा बना लेना चाहिए। अब इस इकहरे बने धागे को पुनः

---

१. चतुरङ्गुलवेष्टनमिव षण्णवतितत्त्वानि तन्तुवद्विभज्य तदाहितं त्रिगुणीकृत्य द्वात्रिंशत्तत्त्वनिष्कर्षमापाद्य''''। (परब्रह्मोपनिषत्—१)

तिहरा करना चाहिये। फिर अन्तिम बार बल चढ़ाकर इकहरा बना लेना चाहिये। यह ऐसा सूत्र है जो इकहरा होते हुए भी नौहरा या नौलड़ा है, जिसे तिहरा करके ग्रन्थि लगानी अवशिष्ट है, और बस ग्रन्थि लगी कि यज्ञोपवीत तैयार हो गया। अब इसे ब्रह्मचारी धारण कर सकता है और आचार्य इससे ब्रह्मचारी को बाँध सकता है।

यज्ञोपवीत-निर्माण के लिए छानवे चप्पों का नाप इस बात का परिचायक है कि प्रकृति के भी छानवे तत्त्व हैं, अर्थात् इस सूत्र को नापते हुए ब्रह्मचारी यह स्मरण रखे कि मुझे प्रकृति-सूत्र के छानवे तत्त्वों ने बाँध रखा है। फिर इस इकहरे सूत्र को त्रिगुणित कर लेना इस बात सूचक है कि प्रकृति के छानवे तत्त्व अन्ततः सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों का ही विस्तार हैं। जब प्रकृति इकहरी रहती है, साम्यावस्था में होती है, वह किसी को नहीं बाँध सकती। त्रिगुणित होकर ही यह बाँधती है। इस इकहरे सूत्र को त्रिगुणित किया जाना उक्त बात का द्योतक है। किसी वस्तु के गुणित किए जाने के लिए गुण की आवश्यकता है, सो प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस्/तीन प्रसिद्ध गुण हैं। यही जब परस्पर एक-दूसरे से गुणित किए जाते हैं, ग्रथित किए जाते हैं, तब किसी को बाँध सकते हैं।

गुण शब्द का अर्थ—

यह भी जान लेना चाहिए कि गुण शब्द का अर्थ जहाँ किसी भी पदार्थ का नित्य धर्म है, वहाँ यह बटी हुई रस्सी का भी वाचक है। रस्सी के अलग-अलग सूत्रों को जब एक-दूसरे से गुणित करते हैं तब रस्सी बन पाती है। यह, एक सूत्र का दूसरे सूत्र से ग्रथित होना है। इस गुणित होने के कारण ही रस्सी को "गुण" कहते हैं। किसी वस्तु का गुणित किया जाना ही सांख्य की परिभाषा में अन्योऽन्य-मिथुन है, एक का दूसरे के साथ मिथुनीभाव है, एक का दूसरे के साथ जुड़कर रहना

है।

प्रकृति के सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन प्रसिद्ध तत्त्वों को गुण नाम इसीलिए दिया जाता है कि जहाँ ये प्रकृति के नित्य धर्म की सूचना देते हैं, वहाँ ये परस्पर एक-दूसरे से गुणित होते हैं, परस्पर मिथुनीभाव से रहते हैं। प्रकृति के नित्यधर्म को गुण संज्ञा दिये जाने का यही प्रयोजन होता है कि यही वे धर्म हैं जो सर्वप्रथम एक-दूसरे से गुणित होते हैं और व्यक्ति-व्यक्ति में, पदार्थ-पदार्थ में, गुणित होकर ही व्यक्ति और पदार्थ को सात्त्विक, राजसिक और तामसिक गुण वाला बना देते हैं। जैसे बहु-गुणित होकर रस्सी (गुण) किसी को बाँध लेती है, वैसे ही बहु-गुणित होकर प्रकृति व्यक्तियों को बाँधती है। यज्ञोपवीत का इकहरा सूत्र प्रकृति की साम्यावस्था का सूचक है, छानवे चप्पे छानवे तत्त्वों का और उसका त्रिगुणित किया जाना सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था प्रकृति को त्रिगुणित किया जाना है। ये छानवे तत्त्व और प्रकृति के मूल सत्त्व, रजस्, तमस्, तीन तत्त्व मिलकर निन्यानवे तत्त्व होते हैं। यही वृत्त के निन्यानवे दुर्ग हैं जिनसे (वृत्र) प्रकृति प्रत्येक व्यक्ति को घेर लेती है। वृत्र का ही वृत्त बनता है।

एक आश्चर्यजनक बात—

हम जब यज्ञोपवीत-सूत्र के छानवे चप्पों पर चिन्तन-रत थे, तो सहसा ध्यान आया कि वास्तव में यदि प्रकृति ही आत्मा को बाँधती है, और नर-तन ही वह तन्तु है जिससे जीव बँधा है तो क्यों न इस वस्तु को नापा जाय, जिससे संभव है नाप के लिए छानवे अंक का रहस्य समझ में आ जाय! झटिति दीवार के सहारे खड़े हो गये और एक हाथ ऊपर को सीधा रखकर मध्यमा अंगुली की ऊँचाई पर चिह्न लगा लिया, और जब अपने ही चप्पे से नापना आरम्भ किया तो उस समय

आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब कुल ऊँचाई बत्तीस चप्पे निकली जो कि कुल नाप का एक-तिहाई थी। ठीक ही तो है! इन बत्तीस चप्पों में सत्त्वगुण के बत्तीस और रजोगुण के बत्तीस चप्पे सम्मिलित हैं। बत्तीस चप्पे वाला सूत्र तिहरा है जिसे इकहरा बना लिया गया है। यह तन भी तो इकहरा तन्तु है जिसमें तिहरे तन्तु पड़े हैं। इस प्रकार छानवे चप्पों का रहस्य समझ में आया। यह तो निश्चित है प्रत्येक व्यक्ति को इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति ने अपने छानवे तत्त्वों से बाँध रखा है। यही छानवे चप्पे नापने का रहस्य है।

मनुष्य-देह का एक और नाप—

यदि व्यक्ति दीवार के सहारे खड़ा रहकर अपने सिर तक की ऊँचाई को नापने के लिए चिह्न लगाए और फिर अपने चप्पे से ही नापे, तो जहाँ कुल ऊँचाई चौबीस चप्पे होगी वहाँ छानवे अंगुल होगी। यह छानवे अंगुल नाप भी यही सूचित कर रहा है कि मनुष्य-तन प्रकृति के छानवे तत्त्वों से बना है, और फिर हर अंगुली के तीन-तीन पर्व यह सूचना दे रहे हैं कि छानवे तत्त्व अन्ततः सत्त्व, रजस् तमस् का ही विस्तार हैं। मूल तत्त्व वही तीन के तीन हैं। यदि इसका वृत्त बनाया जाय तो अड़तालीस चप्पे का वलय बनेगा। इसी प्रकार अपने दोनों हाथों को फैलाकर एक हाथ की मध्यमा अंगुली से दूसरे हाथ की मध्यमा तक नापा जाय तो वह नाप भी चौबीस चप्पे बैठेगा और पूरा वलय अड़तालीस चप्पे बैठेगा। इस प्रकार व्यक्ति का देह जहाँ खड़े रुख अड़तालीस चप्पे है, वहाँ आड़े रुख भी अड़तालीस चप्पे ही होगा। इसीलिए दक्षिण-उत्तर की ओर फैले हाथों के नाप को पुरुष कहते हैं। इस प्रकार व्यक्ति छानवे चप्पे नापवाला सिद्ध हुआ। इसी की याद यज्ञोपवीत-सूत्र में छानवे चप्पों में दिलाई गई है।

एक और समाधान—

इसकी व्याख्या इस प्रकार भी की जा सकती है। बात आठ वर्ष पहले की है। सत्ताईस नवम्बर १९६० को रात्रि साढ़े ८ से साढ़े ९ बजे तक आर्यसमाज लक्ष्मणसर, अमृतसर में यज्ञोपवीत की महिमा पर भाषण दिया। भाषण के पश्चात् एक वृद्ध सज्जन ने जिज्ञासावश पूछा कि यज्ञोपवीत बनाने के लिए जो धागा लिया जाता है वह छानवे चप्पे ही क्यों हो? उत्तर सहज स्फुरित हुआ, उसे पाठकों के लाभार्थ लिख रहा हूँ। मैंने उस वृद्ध सज्जन से कहा कि उपनयन की सबसे छोटी आयु पाँच वर्ष है[1]।

इसका अभिप्राय यह है कि वह अपनी आयु के चार वर्ष बिता चुका है और उपनयन के समय कहा जा रहा है कि वत्स! छानवे चप्पे और नापो अर्थात् आयु के छानवे वर्ष और नापो। यदि बीते हुए चार चप्पों में आगामी छानवे चप्पे मिला दिए जाएँ तो मानवी आयुष्य के सौ वर्ष होते हैं। छानवे चप्पों में इसी की याद दिलाई जाती है, फलतः चप्पा एक वर्ष का प्रतीक है। चप्पे की अंगुलियाँ चार ऋतुओं की और हर अंगुली के तीन-तीन पर्व तीन मास के प्रतीक हैं। चार ऋतुओं के तीन-तीन मास मिलकर वर्ष के बारह मास हो गए। इस प्रकार चप्पा एक वर्ष का प्रतीक है। छानवे चप्पे छानवे वर्ष के प्रतीक हैं। ब्रह्मचारी ने छानवे चप्पे क्या नापे मानो मानवी-आयुष्य के छानवे वर्ष नाप डाले।

वामस्कन्ध पर धारण करने का रहस्य—

यज्ञोपवीत को धारण करने की यह पद्धति है कि ब्रह्मचारी दाहिने हाथ को उठाकर, सिर को उपवीत के बीच डालकर सूत्र को बायें कन्धे पर से ऐसे लटकाते हुए लाए जो हृदय, नाभि को स्पर्श करते हुए

---

१. ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥—मनु० २/३७

दक्षिण-मुष्टि की ओर आ जाए[१]। यज्ञोपवीत का इस प्रकार पहनना भी रहस्यपूर्ण है।

आचार्य और शिष्य का सम्बन्ध हार्दिक है, अतः दोनों को परस्पर आबद्ध करनेवाले सूत्र का हृदय को स्पर्श करते हुए पहनना आवश्यक है। आचार्य शिष्य का हृदय स्पर्श करते हुए जो बात करता है, उस बात की स्मृति के द्योतक-सूत्र का हृदय को स्पर्श करते हुए जाना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब यज्ञोपवीत वाम-स्कन्ध पर धारण किया हुआ दक्षिण ओर लाया जाय, क्योंकि हृदय का स्थान वाम-भाग में है। इस प्रकार यज्ञोपवीत को धारण करने का उद्देश्य जहाँ उसे हृदय पर से गुज़ारते हुए दक्षिण-मुष्टि की ओर लाना इस बात का द्योतक है कि ब्रह्मचारी घोषणा करे कि जो दायित्व मैं वहन करने लगा हूँ, उसे अपने कंधे पर लेता हूँ, मेरे कन्धे में इतना बल है कि इसे वहन करने में समर्थ होऊँगा। इस दायित्व को किसी ने बलात् मुझपर थोपा नहीं है, इसको मैंने हृदय से स्वीकार किया है, इसलिए यज्ञसूत्र हृदय को स्पर्श कर रहा है। ऐसा भी न समझें कि यह दायित्व हृदय से स्वीकार मात्र है, नहीं-नहीं, यह तो मेरे दायें हाथ में है, इसीलिए यज्ञोपवीत दाहिनी मुष्टि में लिये हुए इस व्रत की घोषणा की जाती है कि यह तो मेरी मुट्ठी में है। दाहिना हाथ कृत का प्रतीक है, पुरुषार्थ का प्रतीक है[२]।

ब्रह्मचारी के दृढ़ सामर्थ्य का, अगाध श्रद्धा का और अथक कर्म का द्योतन इस सूत्र के धारण करने से होता है। फिर इस सूत्र ने तीनों को मिलाकर तो विजयपथ प्रशस्त कर दिया। जब कृत, श्रद्धा और बल एक सूत्र में आबद्ध हों तो सफलता निश्चित है।

---

१. वामांसदक्षकट्यन्तं ब्रह्मसूत्रं तु सव्यतः।
अन्तर्बहिरिवात्यर्थं तत्त्वतन्तुसमन्वितम्॥ —परब्रह्मोपनिषद् १०

२. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। —अथर्व० ७/५०/८

यज्ञोपवीत तीन केन्द्रों को घेरता है—

यदि पूर्ण बने हुए यज्ञोपवीत को मूर्धा पर से डाला जाय तो वह नाभि तक आ जाएगा[1]। निस्सन्देह धारण तो कन्धे पर ही किया जाता है, परन्तु यज्ञोपवीत जहाँ स्कन्ध, हृदय और दक्षिण हस्त को सूचित करता है (अर्थात् बल, श्रद्धा और कर्म को सूचित करता है) वहाँ मूर्धा, हृदय और नाभि को सूचित करता हुआ विवेक, श्रद्धा और वीर्य को एकसूत्र में आबद्ध भी करता है। यही वह सूत्र है जिससे अथर्वा ने मस्तिष्क और हृदय को सीया[2] है, योगी के मस्तिष्क और हृदय को सीया है, तर्क और श्रद्धा को एकसूत्र में पिरोया है। इसकी विशद व्याख्या हम पीछे कर आए हैं।

इस प्रकार उपनयन-संस्कार के आत्मभूत यज्ञोपवीत-चिह्न का व्याख्यान हुआ। हमने इसके प्रत्येक पार्श्व पर विचार किया— यज्ञोपवीत के निर्माणार्थ लिया गया सूत्र छानवे चप्पे ही क्यों होना चाहिए? फिर उसे तिहरा ही क्यों किया जाना चाहिए? इसे फिर इकहरा किया गया तो अन्ततः तिहरा किए जाने का क्या प्रयोजन हो सकता है? इसको क्यों ग्रथित किया गया? इसे ब्रह्मग्रन्थि, सावित्रीग्रन्थि आदि नाम क्यों दिया गया? यज्ञोपवीत को ब्रह्मसूत्र, यज्ञसूत्र, विद्यासूत्र, व्रतसूत्र आदि नाम क्यों दिए गए? इत्यादि पर विवेचन हुआ। अब उसके अङ्गोपाङ्गों का संक्षेपतः वर्णन करना आवश्यक है।

पाँच व्रताहुतियाँ—

उपनयन-संस्कार में यज्ञोपवीत पहनाने के पश्चात् जो सर्वप्रथम

---

१. नाभ्यादिब्रह्मरन्ध्रान्तप्रमाणं धारयेत् सुधी ॥ —परब्रह्मोपनिषद् ११

२. **"संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।"** अथर्व० १०/२/२६

विधि कराई जाती है वह ब्रह्मचारी द्वारा पाँच व्रताहुतियाँ देना है। यज्ञोपवीत पहनने के पश्चात् वह स्वयं यज्ञ करता है। यज्ञ करके वह घोषित करता है कि मुझे अब यज्ञ का अधिकार हो गया, और व्रताहुति देकर यह प्रमाणित कर रहा है कि व्रतसूत्र पहनकर ही व्रत ग्रहण किया जा सकता है। पञ्च व्रताहुतियों में एक ही व्रत की घोषणा की गई है "अहम् अनृतात् सत्यमुपैमि"— मैं असत्याचरण से सत्याचरणरूप व्रत को ग्रहण करता हूँ।

यहाँ ध्यातव्य है—असत्य भाषण को ही अन् + ऋत नहीं कहते, अपितु किसी भी इन्द्रिय से विरुद्ध चेष्टा को अन्-ऋत कहते हैं। ऋत का अर्थ है सीधा, सरल। जो आचरण सरल रेखा के समान है वह ऋत है, उसके विरुद्ध जो आचरण तिर्यक् रेखा के समान है वह अन्ऋत है। वाणी से सीधा-सरल कथन ऋत है, विपरीत कथन अन्ऋत है। आँखों से सीधा-सरल देखना ऋत है, विपरीत-दर्शन अनृत है। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों से सरल आचरण ऋत और विरुद्ध आचरण अनृत कहलाता है।

जहाँ पाँचों मंत्रों से एक ही व्रत की घोषणा की गई है वहाँ व्रतपति के रूप में अलग-अलग देवताओं को अपना व्रतपालक बनाया गया है। क्रमशः अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र जहाँ पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक के देवताओं को स्मरण करता है, वहाँ इन सभी व्रतपतियों के भी व्रतपति इन्द्र को स्मरण करता है। अपने व्रत को सुखपूर्वक वहन करने के लिए अग्नि, वायु आदि को आदर्श बनाए और इनके ऋत नियमों के संचालक, व्रतपतियों के व्रतपति परमात्मा को भी स्मरण करे, उससे आशीर्वाद माँगे।

यह संक्षेपतः व्रतमन्त्रों पर विचार हुआ।

आचार्य द्वारा बालक की अञ्जलि में जल भरना—

पाँच व्रताहुतियों के पश्चात् आचार्य बालक को देखते हुए

"आगन्त्रा समगन्महि" मन्त्र का जाप करता है और ब्रह्मचारी **"ओं ब्रह्मचर्यमागामुपमानयस्व"** (गो० गृ० २/१०/२१) वाक्य पढ़के आचार्य से प्रार्थना करता है कि, हे आचार्य ! मैं ब्रह्म की चर्या के निमित्त उपनयन का अधिकारी हो गया हूँ, अतः मुझे अपने समीप लेकर कृतार्थ कीजिए। इस प्रकार प्रार्थना किए जाने पर आचार्य ब्रह्मचारी से उसका नाम पूछता है, और ब्रह्मचारी भी अपना नाम बताता है। तत्पश्चात् आचार्य **"आपो हिष्ठा मयो भुवः"** आदि तीन मन्त्रों[१] का उच्चारण करके ब्रह्मचारी की दक्षिण हस्ताञ्जलि को शुद्धोदक से भरता है। पश्चात् आचार्य अपनी हस्ताञ्जलि भरके **"ओं तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य"**[२] मंत्र का पाठ करते हुए अपनी अञ्जलि का जल बालक की अञ्जलि में छोड़ देता है और बालक की अञ्जलि को अंगुष्ठ-सहित पकड़कर अञ्जलि-जल को पात्र में छुड़वा देता है। इसी प्रकार यह क्रिया तीन बार करायी जाती है।

पूर्वोक्त क्रिया का एकमात्र यही प्रयोजन है कि ज्ञानप्रवाह अविच्छिन्न बना रहे, टूटे नहीं। ब्रह्मचारी का दक्षिण हस्ताञ्जलि बनाकर आचार्य के सम्मुख उपस्थित होना इस बात का परिचायक है कि हे आचार्य ! मैं सर्वथा रिक्ताञ्जलि आया हूँ, सर्वथा रिक्त पात्र हूँ, मेरे इस पात्र को अपने ज्ञानजल से आपूरित कर दीजिए। इस प्रार्थना पर आचार्य जल-प्रशंसा के मिष से ज्ञान-जल की प्रशंसा करते हुए बालक की रिक्ताञ्जलि को जल से आपूरित करता है और ब्रह्मचारी को सावधान करता है कि तू सर्वथा रिक्त नहीं है। तेरे बुद्धिपात्र में पूर्वजन्मोपार्जित ज्ञानजल है जो अप्रबुद्ध रूप में है। देखना, इस ज्ञान-जल को सँभालकर रखना, कहीं यह रिसने न पाए ! यदि पात्र में छिद्र हुआ तो ज्ञान-जल बिखर जाएगा। इसका बिन्दु-बिन्दु अमृत है।

---

१. आपो हिष्ठा मयोभुवः० । यो वः शिवतमो रसः० । तस्मा अरं गमाम० ॥(ऋ० १०/९/१-३)
२. तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम् । (ऋ० ५/८२/१)

ब्रह्मचारी का दक्षिणाञ्जलि में जल लेने का यही आशय है कि मैं अपनी पुरुषार्थ की अञ्जलि में (कर्म की अञ्जलि में) इसे ग्रहण करता हूँ। तत्पश्चात् आचार्य द्वारा अपनी अञ्जलि के जल को उसकी अञ्जलि के जल में छोड़ने का भाव यह है कि आचार्य अपना सम्पूर्ण ज्ञान शिष्य के ज्ञान में उँडेलकर उसे समृद्ध करता है। तत्पश्चात् आचार्य ब्रह्मचारी की अञ्जलि को अंगुष्ठ-सहित पकड़ता है, जिसका यही आशय है कि आचार्य ब्रह्मचारी के कर्म में अपनें कर्म को सम्मिलित करता है—हे ब्रह्मचारिन्! तुम ज्ञान लेने में पूर्ण पुरुषार्थ करना, मैं ज्ञान-दान में पुरुषार्थ करूँगा। परिणामस्वरूप तुम ज्ञान-जल से परिपूर्ण हो जाओगे। अन्ततः यही परिणाम हुआ और जल अञ्जलि के ऊपर से बहने लगा। बस, आचार्य ने तत्काल जल को पात्र में छुड़वाकर ब्रह्मचारी को यह बोध करवा दिया कि इस ज्ञानप्रवाह को रुकने न देना, जारी रखना! इसका बिन्दु-बिन्दु मूल्यवान् है, कण-कण अमृत है। जहाँ इसे व्यर्थ न गँवाना, वहाँ पात्र-व्यक्तियों को देने में संकोच न करना, पात्र मिलते ही भर-भरकर देना, कुछ छिपा या चुराकर न रखना!

तीन बार अञ्जलि को भरना और तीन बार पात्र में छुड़वाने का भी उद्देश्य यही है कि जो तुम्हें त्रिविध ज्ञान से परिपूर्ण किया है, तुम भी त्रिविध ज्ञान अन्यों को देते रहना। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से ज्ञान त्रिविध है। ज्ञान, कर्म, उपासना भेद से ज्ञान त्रिविध है।

अन्तेवासी द्वारा सूर्यदर्शन—

तत्पश्चात् आचार्य ब्रह्मचारी को सूर्य-दर्शनार्थ ऐसे स्थान पर खड़ा करे, जहाँ से सूर्य के दर्शन हो सकें। सूर्य को सम्बोधन करते हुए कहे कि 'सर्वप्रेरक सविता देव! यह तेरा ब्रह्मचारी है। इसकी रक्षा कर! ऐसा न हो कि कहीं इसकी प्राणहानि हो जाय। तू अपनी प्राण-

रश्मियों से इसे प्राणवान् बना।' ब्रह्मचारी को सूर्य की ओर इंगित कर कहे कि **"तत् चक्षुर्देवहितम्"**० (यजुः० ३६/२४)—वह देखो, देवों का हितकर चक्षु है। इस चक्षु को अपनी चक्षु से देखो। जब ब्रह्मचारी की आँखें जम न पायें, तो कहे "सुनो! वह व्याख्यान दे रहा है। चक्षु शब्द का अर्थ ही व्याख्याता है, अतः इस व्याख्याता के व्याख्यान को सुनो! यह कह रहा है 'हे ब्रह्मचारिन्! शुक्र को, वीर्य को ऊपर की ओर ले चल। जिस प्रकार मैं विराट् शरीर के नाभि-केन्द्र में विद्यमान जल को वाष्प बनाकर ऊपर ले आता हूँ, तू भी ऐसा ही कर, ऊर्ध्वरेता बन।' फिर देखना, तेरी आँखों की चमक भी ऐसी ही हो जाएगी, तुझसे भी कोई आँख न मिला सकेगा। कदाचित् दुष्ट व्यक्ति आँख मिलाकर गिराना चाहेगा तो पहले उसकी ही आँखें नीची हो जाएँगी।" शिष्यमण्डली ने जब यह व्याख्यान सुना तो पुलकित-गात्र हो गाना आरम्भ किया—**पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम्।**—हम इस प्रकार के दृश्य शतवर्ष-पर्यन्त देखते रहें, इत्यादि....।

सूर्यावृत का अनुवर्तन[१]—

आचार्य सूर्य-दर्शन कराके ब्रह्मचारी को आदेश दे कि सूर्य का एक वृत्त है, इसका अनुवर्तन करो। ऐसे ही अनुवर्तन करो जिस प्रकार ग्रहोपग्रह अनुवर्तन करते हैं। तत्पश्चात् ब्रह्मचारी आचार्य की प्रदक्षिणा करे। इस प्रदक्षिणा का यही प्रयोजन है कि वह आचार्य द्वारा बनाए वृत्त का अनुवर्तन करे।

वृत्तेन हि भवत्यार्यः—

आर्य वृत्त से ही पहचाना जाता है। वित्त से वृत्त का स्थान ऊपर

---

१. सूर्यस्यावृतमन्वावर्तस्व। (गो० गृ० २/१०/२७)

है। आज के व्यक्ति का मापदण्ड वृत्त न रहकर वित्त हो गया है। प्राचीन आर्य वृत्त को महत्त्व देते थे, वित्त को नहीं। इसीलिए आचार्य उपनयनार्थ आए ब्रह्मचारी के सामने वृत्त का आदर्श रखता है। इसी का अनुवर्तन उनका धर्म है।

परिवीत का अभिनय—

तत्पश्चात् आचार्य वस्त्र से आच्छादित हाथ से ब्रह्मचारी के नाभि, हृदय, दक्षिण और वाम स्कन्ध का स्पर्श करे। यह हम स्पष्ट कर चुके हैं कि यज्ञोपवीत वाम स्कन्ध, हृदय और नाभि को स्पर्श करते हुए धारण करना किस बात का परिचायक है। आचार्य का इन अंगों का स्पर्श करना भी इसी का परिचायक है कि वह ब्रह्मचारी की हार्दिक भावनाओं को देखे, उनका सम्मान करे। प्राणों की ग्रन्थि (नाभि) को भी देखे कि वह स्वस्थान से विचलित न हो जाए। ब्रह्मचारी के वाम और दक्षिण स्कन्ध को अपने वाम और दक्षिण हस्त से स्पर्श करके उसे अपने विश्वास में ले, उसे धैर्य दे कि चिन्ता न कर, तेरी पीठ पर मेरा हाथ है। जो दायित्व तूने अपने कन्धों पर वहन किया है, उसमें मेरा पूर्ण सहयोग होगा। पुरुषार्थ किए चलो, सफलता तुम्हारे हाथ है।

प्रतिज्ञा-मन्त्र—

उपनयन-संस्कार के आरम्भिक मन्त्र की जो महत्ता है वही अन्तिम मन्त्र की महत्ता है। जहाँ आरम्भ में यज्ञोपवीत-मन्त्र में जिन तीन सूत्रों द्वारा ब्रह्मचारी को त्रिधा बाँधा गया है, वहाँ अन्त में प्रतिज्ञा-मन्त्र में उन तीन केन्द्रों की ओर इंगित कर परस्पर आबद्ध होने की प्रतिज्ञा कराई गई है। यज्ञोपवीत के सूत्रों से मानो परस्पर एक-दूसरे के हृदय, चित्त और मन को आबद्ध करते हुए कहते हों—

मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥

पा० गृ० १/८/८; गो० गृ० २/२/१६

ते तेरे **हृदयम्** हृदय को मैं **मम** मेरे अपने **व्रते** व्रत में, संकल्प में, **दधामि** धारण करता हूँ, स्थापित करता हूँ। **ते** तेरा **चित्तम्** चिन्तन, संज्ञान **मम** मेरे **चित्तम्** चिन्तन या संज्ञान के **अनु** अनुकूल **अस्तु** हो। **मम** मेरी **वाचम्** बात को, आदेश को तू **एकमनाः** अनन्य-मनाः होकर, अनन्य-भाव से **जुषस्व** प्रीतिपूर्वक सेवन कर। **बृहस्पतिः** ज्ञान-कक्ष के अधिपति **त्वा** तुझको, आपको **मह्यम्** मेरे लिए **नियुनक्तु** नियुक्त करे, सम्बन्धित करे।

इसमें तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—(१) व्रत, (२) चित्त, (३) वाणी। साथ ही यह भी निर्देश है कि (१) व्रत, हृदय में धारित हो, (२) चित्त, चित्त के अनुकूल हो, (३) वाणी मन में धारित हो। व्रत में पहली स्थिति का नाम संकल्प है जो मन[1] का विषय है। जब संकल्प हृदय की वस्तु बन जाय, श्रद्धा की वस्तु बन जाय, तब वह व्रत कहलाता है। मन का विषय हृदय का विषय बन जाए। तर्क का विषय श्रद्धा का विषय बन जाए। मन का संकल्प हृदय का व्रत बन जाए अर्थात् मन और हृदय एक हो जाएँ। 'मम व्रते ते हृदयं दधामि' में यही भाव सन्निहित है कि संकल्प व्रत बन जाए।

मम चित्तम् अनुते चित्तम् अस्तु

चित्त, अन्तःकरण-चतुष्टय में से एक महत्त्वपूर्ण अंग है, जो कि

---

१. (क) तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। (यजुर्वेद ३४/६)
(ख) संकल्पविकल्पात्मकं मनः।

मन का ही एक अवान्तर विभाग है,[1] जिसमें सम्यक्-ज्ञान अथवा प्रकृष्ट-ज्ञान निहित रहता है, जिससे मन में उठनेवाले संकल्प-विकल्पों की जाँच की जाती है। यहाँ आचार्य-शिष्य के परस्पर (एक-दूसरे के अनुकूल होने) की बात कही गई है अर्थात् इनका संकल्प जहाँ परस्पर एक-दूसरे के हृदय का व्रत बने, वहाँ इनका संकल्प परस्पर एक-दूसरे की संज्ञान की कसौटी पर भी खरा उतरे। जब कोई कल्पना संज्ञान की कसौटी पर खरी उतरती है तो उसे संकल्प कहते हैं। और जब कोई संकल्प हृदय का विषय बन जाए तब उसे व्रत कहते हैं। "मम चित्तमनुचित्तम्" में यह भाव संनिहित है कि 'कल्प' संकल्प बन जाए।

मम वाचमेकमना जुषस्व—

यहाँ आचार्य और शिष्य एक-दूसरे की वाणी को अनन्यमन से सेवन करने की बात कहते हैं। हृदय में धारित व्रत ही वाणी का विषय बनता है (जिसकी घोषणा व्रत-मंत्रों में की जा चुकी है)—**अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि**—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! हे व्रतों के पालक सर्वाग्रणी भगवन्! "व्रतं चरिष्यामि"—मैं व्रत का पालन करूँगा। इस प्रकार वाणी द्वारा की गई घोषणा ही उसकी बात है, उसकी वाचम् है, जिसका अनन्य-मन से सेवन करना दोनों का परस्पर एक कर्त्तव्य है। यहाँ दो बातें हैं—सर्वप्रथम अपने व्रत की घोषणा करना, सबको सर्वत्र कहना, परिभाषण,—इसी का नाम दीक्षा है। और द्वितीय बात प्रीतिपूर्वक सेवन करना है; जो व्रत परिभाषण में आया है वह आचरण का विषय बने, बस इसी आचरण का नाम सत्य है, जिसकी घोषणा वह '**इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि**" (यजुः० १/५) में कर चुका है। "**व्रतमुपैमि**" को लक्ष्य करके ही कहा गया कि आओ, परस्पर अनन्यमनाः होकर इसका

---

१. (क) यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम्।—यजुर्वेद ३४/५
(ख) यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च।—यजुर्वेद ३४/३

प्रीतिपूर्वक सेवन करें। **"मम वाचमेकमना जुषस्व"** में यह भाव संनिहित है कि व्रत, मात्र परिभाषण में ही न हो, आचरण का विषय बन जाए, व्रत दीक्षा का और दीक्षा सत्य का रूप बन जाय।

अन्त में आचार्य ब्रह्मचारी से उसका नाम पूछता है। वह अपना नाम बताता है। फिर आचार्य शिष्य से यह पूछता है कि किसके ब्रह्मचारी हो? शिष्य उत्तर देता है—आपका। तत्पश्चात् आचार्य कहता है कि तुम परमैश्वर्यवान् परमात्मा के अथवा तत्-प्रतिनिधि-स्वरूप राष्ट्रपति के ब्रह्मचारी हो। सर्वाग्रणी भगवान् अथवा तत्-प्रतिनिधिभूत तेरे हृदय में प्रज्वलित व्रताग्नि अथवा तत्-प्रतिनिधिभूत मैं आचार्य पद पर अधिष्ठित व्यक्ति तुम्हारा आचार्य हूँ। फिर इसी बात का "कस्य ब्रह्मचार्यसि" में उत्तर देता है कि तुम प्रजापति के ब्रह्मचारी हो, प्राण के ब्रह्मचारी हो, प्रजापति ही तुम्हें उपनयन के लिए लाया है और प्रजापति के लिए ही मैं तुम्हारा निर्माण कर रहा हूँ। आगे अपनी शिक्षादान की घोषणा करते हुए कहता है—प्रजापति (राष्ट्रपति) के उपविभागों में काम आने के लिए तुझे तैयार करता हूँ। देव-सविता के लिए मैं तुम्हारा निर्माण करता हूँ। देव-सहिता का अर्थ—विधि-विभाग है। तुम्हें विधि-विभाग के योग्य बनाता हूँ, जल-विभाग और ओषधि-विभाग के योग्य बनाता हूँ। द्यावापृथिवी के लिए तुम्हारा निर्माण करता हूँ। द्यौ और पृथिवी का ज्ञान, ज्योतिषशास्त्र और भूगर्भशास्त्र का अध्ययन करना है। इस सबका उद्देश्य है समस्त विश्व-देवताओं की सेवा के लिए योग्य बन सको। अन्त में समस्त प्राणिमात्र की सेवा के लिए तुम्हें समर्पित करता हूं। "अद्भ्यः ओषधीभ्यः" का सम्बन्ध ब्रह्मचर्याश्रम से है। द्युलोक का अर्थ वानप्रस्थ है, और पृथिवीलोक का अर्थ ब्रह्मचर्याश्रम है। द्यावापृथिवी के लिए देने का अर्थ वानप्रस्थ के लिए अपने माता-पिता को और ब्रह्मचर्य के लिए अपने पुत्रों को समर्पित करके सेवा करने का भाव निहित है।

'विश्वेभ्यः देवेभ्यः' वानप्रस्थ का उद्देश्य है और 'सर्वेभ्यः भूतेभ्यः' संन्यास का उद्देश्य है। यही शिक्षा का उद्देश्य है।

प्रजापति का द्वितीय अन्तःसूत्र–

प्रजापति-कक्षा के प्रथम सहज-सूत्र का वर्णन हो चुका; उसके प्रतिपादक मन्त्र का व्याख्यान भी हो चुका। अब रह जाता है प्रजापति के द्वितीय सूत्र का वर्णन। तो यहाँ प्रसंगोपात्त उसका वर्णन भी कर देना उपयुक्त समझते हैं। मातृ-कुक्षि में संधारित गर्भ एक ओर तो अपनी जननी से जुड़ा रहता है और दूसरी ओर जगज्जननी से जुड़ा रहता है। गर्भ को दोनों जननियों से जोड़नेवाले प्रकृति-प्रदत्त दो सहज-सूत्र गर्भ के दशम द्वार नाभि से निकलकर माता के उदराशय से जुड़े रहते हैं, जिसका विस्तृत वर्णन पिछले पृष्ठों में हो चुका है। जगन्माता से जोड़नेवाले सहज-सूत्र का सूत्रपात गर्भ के ग्यारहवें **विदृति-द्वार**[1] से होता है। इसी को विदारित करने के कारण ही जीवात्मा की एक संज्ञा इन्द्र होती है। विदृतिद्वार मस्तिष्क के मध्य एक त्रिकोण के रूप में रहता है। उसी के नीचे सहस्रारचक्र है। द्वितीय सहज-सूत्र शरीरस्थ आठ चक्रों एवं मेरुदण्ड में विद्यमान तैंतीस पर्वों को ऐसे ही पिरोये रहता है, जैसे साधारण सूत्र मणियों को—**'सूत्रे मणिगणा इव'**।

जैसे दशम द्वार नाभि से उद्भूत सहज-सूत्र द्वारा गर्भ, जननी से आहार, रस, प्राण तथा ओज का ग्रहण करता रहता है, वैसे ग्यारहवें विदृति-द्वार से उद्भूत सहज-सूत्र द्वारा गर्भ जगज्जननी से आनन्द-रस का पान करता रहता है। गर्भगत जीव को इसका कोई ज्ञान नहीं होता। उस समय गर्भ की भोगरूपता और ब्रह्मरूपता बनी रहती है। सांख्य की

१. सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्। (ऐ०उ० ३/१२)

परिभाषा के अनुसार कह सकते हैं—**समाधि-सुषुप्ति-गर्भ-मोक्षेषु ब्रह्मरूपता** द्विविध सहज-सूत्रों द्वारा सहज रस का आहरण करता हुआ परिपाक को प्राप्त होता है। परिपक्व होते ही गर्भ का शरीर-जन्म होता है। शरीर-जन्म होते ही नाभिस्थ सहज-सूत्र से तो छुटकारा हो जाता है परन्तु द्वितीय सहज-सूत्र से नहीं। जब तक उसका उद्देश्य पूर्ण नहीं हो जाता उससे छुटकारा असंभव है। द्वितीय सूत्र का उद्देश्य है, जीव को समाधि-लाभ अथवा यौगिकजन्म प्रदान कराना। यह सहज-सूत्र जन्म-जन्मान्तर तक भी बना रह सकता है। इससे आबद्ध जीव जब तक विदृति-द्वार में निवास करता है, तब तक जगन्माता से जुड़ा हुआ आनन्द-मधु का पान करता है। तब तक स्वस्थ रहता है। विदृति-द्वार की वैदिक संज्ञा त्रिविष्टप अथवा स्वर्लोक है। यही जीव का मूल स्थान है। इसी में स्थित होकर ही स्वस्थ रहता है। जैसे ही भोगार्थ बाहिर की ओर खुलनेवाले नवद्वारों का आश्रय लेता है, वैसे ही जीव का पतन होना आरम्भ हो जाता है और गिरते-गिरते मूलाधार में आ गिरता है। यहीं शिश्नोदर द्वारों के माध्यम से काम और अर्थ का उपभोग करता है।

किसी ऐसे ही व्यक्ति को, जो कि पतन के गहरे गर्त में गिर चुका है, अथवा किसी ऐसे अभिमन्यु को जो चक्रव्यूह का भेदन कर अन्दर प्रवेश तो कर गया है परन्तु बाहर नहीं निकल पा रहा, भगवान् वेद का यह आदेश है—**'उद्यानं ते पुरुष नावयानम्'**[१]—ऐ पुरुष! तेरा यह स्थान नहीं है जहाँ पड़ा है, ऊपर उठो, आरोहण करो, न कि नीचे गिरे रहो। इस अवयान-अवस्था से उद्यान-अवस्था पर, मूलाधार-चक्र से सहस्रार-चक्र पर, अथवा पृथिवीलोक से स्वर्गलोक तक आरोहण करने का एकमात्र साधन प्रजापति द्वारा प्रदत्त यही द्वितीय सहज-सूत्र (यज्ञोपवीत) है जो सहस्रार-चक्र से मूलाधार-चक्र तक ओत-प्रोत है। इसी सहज-यज्ञोपवीत के त्रि-सूत्रों को **इडा, पिंगला** और **सुषुम्ना** कहते

---

१. अथर्व० ८/१/६

हैं। गर्भावस्था में जीव इन्हीं सूत्रों के माध्यम से ब्रह्म से युक्त रहता है और इन्हीं सूत्रों के माध्यम से अष्टांग-योग के **प्राणायाम, धारणा, ध्यान** नामक तीन अंगों का सिद्धिलाभ कर समाधि सिद्ध करता है, ब्रह्मरूपता अर्थात् आनन्दरूपता को प्राप्त करता है। ब्रह्मरूपता-प्राप्ति तक यह सहज यज्ञोपवीत सदा ही गले में डाले रहता है, अथवा जीव पहने रहता है। भले ही उसके गर्भगत सहज यज्ञोपवीत तथा गायत्री-गर्भगत विद्या-सूत्र उतर गये हों, परन्तु तृतीय सहज-सूत्र कभी नहीं उतरता; गर्भ की भाँति संन्यासी का, योगी का यह सूत्र बना ही रहता है। जिस प्रकार प्रजापति-कक्षा का प्रथम यज्ञोपवीत गर्भ एवं जीव को पहनना आवश्यक है, उसी प्रकार प्रजापति का द्वितीय यज्ञोपवीत भी जीव को पहनना आवश्यक है। इन दोनों ही सहज यज्ञोपवीतों का निर्माण मातृ-उदर में ही होता है। इन दोनों सहज उपवीतों को प्रजापति परमात्मा बिना लिंग-भेद, रंग-भेद, जाति-भेद और सम्प्रदाय-भेद के सभी जीवों को पहनाते हैं, तो बृहस्पति आचार्य को भी अपना शुभ्र यज्ञोपवीत बिना किसी भेदभाव के पहनाना चाहिए।

हम लिख चुके हैं कि द्वितीय अन्तःयज्ञोपवीत का सूत्रपात गर्भ के ब्रह्मरंध्र से होता है, और गर्भ पृष्ठवंश में से होता हुआ नीचे मूलाधार तक जाता है। इसमें भी तीन ही सूत्र होते हैं, जिन्हें नाड़ी संज्ञा दी जाती है—**इडा, पिंगला और सुषुम्ना**। सुषुम्ना मध्य में रहती है। उसके दाहिनी ओर पिंगला का स्थान है और बाईं ओर इडा का है। सुषुम्ना परमतत्त्व में लीन रहती है, नीड की भाँति समस्त विश्व उसमें प्रतिष्ठित रहता है। वहीं से नाना नाड़ी-जाल फैला रहता है, जिसका वर्णन उपनिषदों में इस प्रकार है—**'सुषुम्णा तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी। इडा तिष्ठति वामेन पिंगला दक्षिणेन च॥** (क्षुरिकोप०)

सुषम्नान्तर्गतं विश्वं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्।
नानानाडी प्रसवगं सर्वभूतान्तरात्मनि॥

मातृकुक्षि में गर्भ के निर्माण की प्रक्रिया इतनी सहज और स्वाभाविक होती है कि उसपर आश्चर्य होता है। बड़े से बड़ा वैज्ञानिक दाँतों-तले अंगुली लेते हुए देखा गया है। इस रहस्य को कोई विज्ञानवेत्ता अथवा योगी ही जान सकता है। हम तो प्रस्तुत ग्रन्थ में उन अन्तः-उपवीतों का, उनके अन्तःसूत्रों का वर्णन कर रहे हैं, जिनसे गर्भ जन्मदात्री माता से आबद्ध रहता है, उसका उचित विकास होता है, और निर्माण होता है। ये अन्तः-उपवीत और उनके सूत्र कहीं बाहिर से नहीं, उसके अन्दर से ही उद्‌भूत होते हैं, वृद्धि प्राप्त करते हैं और गर्भ की रक्षा और निर्माण में योगदान देते हैं, सर्वथा उसी प्रकार जिस प्रकार मकड़ी के अन्दर से सूत्र निकलते हैं, जिनसे मकड़ी अपना आवरण सहज ही निर्माण कर लेती है, स्वयं ही उसमें बन्द हो जाती है। यही तो वे अन्तःसूत्र हैं जिनसे हर योगी मस्तिष्क और हृदय को सिलता है अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार करता है। अथर्ववेद (१०/२/२६) में वर्णन है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥

सूत्रों का सूत्र—

अब अन्त में हम ऐसे सूत्र का वर्णन करने चले हैं कि जो सूत्र का भी सूत्र है। इसलिए उसे दिव्य सूत्र कहना अत्यावश्यक है। इस दिव्य सूत्र को धारण करके जीव को दिव्य जन्म प्राप्त होगा। साधारण जन्म के लिए मातृकुक्षि में स्थित होना आवश्यक है। उसके लिए सहज यज्ञोपवीत पहनना आवश्यक है। जीव को श्रेष्ठ जन्म के लिए भी विद्या-जननी की कुक्षि में रहना होगा, जहाँ आचार्य द्वारा प्रदत्त शुभ्र यज्ञोपवीत पहनना आवश्यक होगा। दिव्य जन्म के लिए जीव को दिव्यमाता की कुक्षि में रहना होगा और उसके लिए दिव्य सूत्र धारण

करना होगा, अर्थात् सांसारिक जन्मदात्री माता की कुक्षि में नहीं। अब प्रश्न होगा कि ऐसा कौन-सा जन्म है कि जो सांसारिक जननी की कुक्षि में आए बिना सम्भव होगा? इसका उत्तर स्पष्ट है कि ऐसा जन्म तो सृष्टि के आरम्भ में जन्म पानेवाले जीवों का ही संभव है। वही ऐसी अवस्था होगी जब न सांसारिक जननी ही होगी और न सांसारिक जनक ही होगा। दिव्य जननी होगी, दिव्य जनक होगा और दिव्य ही जन्म होगा। दिव्य जन्म का दूसरा कारण होगा कि वे उभयतः जन्म धारण किए होंगे—शरीरतः भी, विद्यातः भी। शारीर जन्म दिव्य जननी-जनक से होगा और विद्याजन्म दिव्य आचार्य से होगा। शारीर जन्म के लिए दिव्य जननी पृथिवी होगी, दिव्य जनक सूर्य होगा और दिव्य आचार्य स्वयं ब्रह्म होगा। उसी समय उन सबका दिव्य उपनयन होगा। माता पृथिवी से इतनी एकता होगी जो सांसारिक जननी से भी दुर्लभ है। उस समय दोनों का प्राण एक होगा, गन्ध एक होगी, रस एक होगा, रूप एक होगा, स्पर्श एक होगा, शब्द एक होगा। गर्भ और गर्भी दोनों तन्मय होंगे। यह तन्मयता जिन दिव्य सूत्रों पर आधारित होगी वे दिव्यजनक सूर्यरश्मियों से निर्मित होंगे जिसका वर्णन ऋग्वेद के नवम मण्डल के छयासीवें सूक्त के बत्तीसवें मंत्र में इस प्रकार हुआ है—

स सूर्यस्य रश्मिभिः परिव्यत तन्तुं तन्वानस्त्रिवृतं यथाविदे।
नयन्नृतस्य प्रशिषो नवीयसीः पतिर्जनीनामुपयाति निष्कृतम्॥

(ऋ० ९/८६/३२)

सृष्टि के आरम्भ में [सः] उस परमाचार्य ने आदि-ऋषियों को [यथाविदे] यथायोग्य ज्ञान देने के लिए [सूर्यस्य रश्मिभिः] सूर्यरश्मियों के माध्यम से [तन्वानः] उनके तन्तुओं का विस्तार करता हुआ [त्रिवृतं तन्तुम्] तिहरे तन्तुओं से निर्मित सहज यज्ञोपवीत [परिव्यत] सब ओर से धारण कराता है। वह [ऋतस्य पतिः] ज्ञान

का भण्डार परमाचार्य [स पूर्वेषामपि गुरुः] पूर्ववर्तियों का भी गुरु [नवीयसीः] इस नई प्रजा को [प्रशिषः] प्रकृष्ट शिक्षा [नयन्] प्रदान करता हुआ [जनीनाम्] प्रजनन की [निष्कृतम्] कर्त्तव्यपरायणता को [उपयाति] प्राप्त होता है। यह मन्त्र उभयविध वीतियों (परिवीत और उपवीत) का मूल मंत्र है। इसी दिव्य रेतस् से दिव्य प्रजाओं का जन्म हुआ देख आदि ऋषि भक्तिप्रवण हो पुकार उठे—

तवेमाः प्रजा दिव्यस्य रेतसस्त्वं विश्वस्य भुवनस्य राजसि।
अथेदं विश्वं पवमान ते वशे त्वमिन्दो प्रथमो धामधा असि ॥

ऋ० ९/८६/ २८)

हे परमाचार्य ! तेरे दिव्य वीर्य का परिणाम ये दिव्य प्रजाएँ हैं। तू सम्पूर्ण विश्व का राजा है। ये सारी प्रजाएँ तेरी हैं। हे पवमान ! सब तेरे वश में हैं। कौन किसका पात्र है इस न्याय का सर्वप्रथम निर्णेता तू ही है। वे दिव्य प्रजाएँ इसलिए हैं कि उनका जन्म मातृ-योनि से नहीं हुआ, वे अयोनिज हैं। उनकी उत्पत्ति मुख से हुई। उत्पन्न होते ही वैदिक ऋचाओं का गान करने लगे। तब परस्पर ज्ञान हुआ कि सभी अयोनिज दिव्य प्रजाएँ हैं।

शतपथ (११/५/४/१७) में कहा गया है—"**द्वय्यो वा इमाः प्रजाः दैव्यश्चैव मानुष्यश्च, ता वा इमा मानुष्यः प्रजाः प्रजननात् प्रजायन्ते, छन्दांसि वै दैव्यः प्रजास्तानि मुखतो जनयते तत एतज्जनयते ॥**"

—इस संसार में सन्तान दो प्रकार की हैं—एक दैवी और दूसरी मानुषी। सो 'मानुषी प्रजा' उपस्थेन्द्रिय से उत्पन्न की जाती है। 'दैवी प्रजा' नाम छन्दों का है। यह सन्तान मुख से उत्पन्न की जाती है। बस, वह सृष्टि के आदि में मनुष्यों को उत्पन्न करता है। यही बात ऊपर वेद में कही गई है और वेद से शतपथकार याज्ञवल्क्य ने ली है। इस प्रकार दिव्य जन्म और दिव्य जन्म के देनेवाले दिव्य माता-पिता और

दिव्य जन्म के माध्यम दिव्य यज्ञोपवीत का वर्णन हो गया। इस प्रकार मातृकुक्षि में प्रजापति द्वारा प्रदत्त दो-दो अन्तःसूत्रों का तथा उनकी अनुकृति में बृहस्पति द्वारा दत्त विद्यासूत्र का विशद वर्णन और अन्त में दिव्य-जन्म-धारणार्थ दिव्य अन्तःसूत्र का भी वर्णन हो चुका। विज्ञजन

मुझे धृष्टता करने की अनुमति दें कि मैं अथर्व श्रुति के शब्दों में कह सकूँ—

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत्॥

अथर्व० १०/८/३८

□□
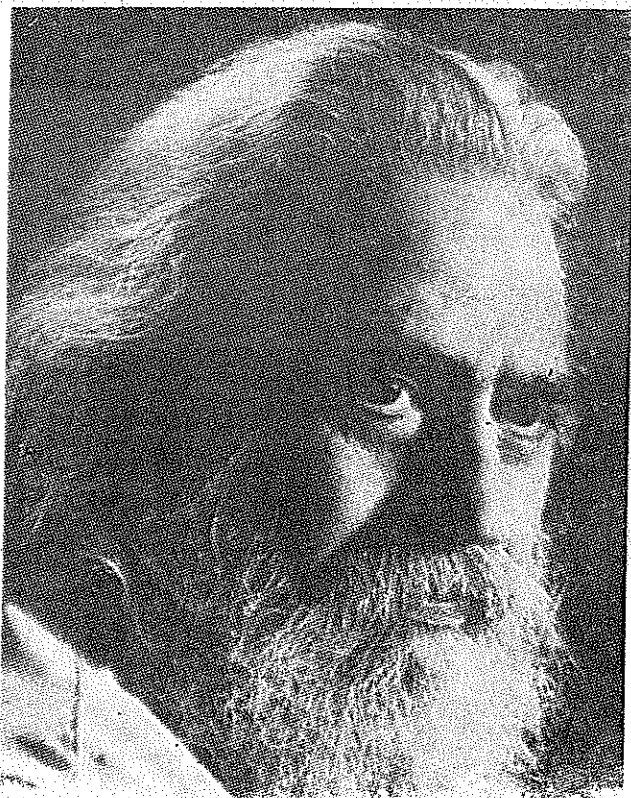
दीक्षानन्द सरस्वती

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोता: प्रजा इमा।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत्॥
वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोता प्रजा इमा:।
सूत्रं सूत्र स्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत्॥

अथर्व १०-४-३७;३८